और एक समय कुंभनदासजीने श्रीआचार्यजीसों पुष्टिमारगको सिध्धांत पूछ्यो. तब श्रीआचार्यजी आपु कृपा करिके चौरासी अपराध, राजसी-तामसी-सात्त्विकी भक्तनके लक्षण और प्रातःकालतें सेन पर्यन्तकी सेवाको प्रकार कहे; बाललीला किशोरलीलाको भाव कहे. पाछें कहे जो जा पर श्रीगोवर्धननाथजीकी कृपा होयगी सो या कालमें पूछेंगे और करेंगे. जो तुम सरीखे भगवदीय पूछेंगे और करेंगे. आगे काल महाकठिन आवेगो, और न कोई पूछेगो और न कोई कहेगो..

भावप्रकाश— सो काहेतें? जो सिंघिनीको दूध सोनेके पात्र बिना रहे नाहीं. तैसे हीं भगवद्लीलाको भाव और भगवद्धर्म भगवदीय बिना औरके हृदयमें रहे नाहीं.

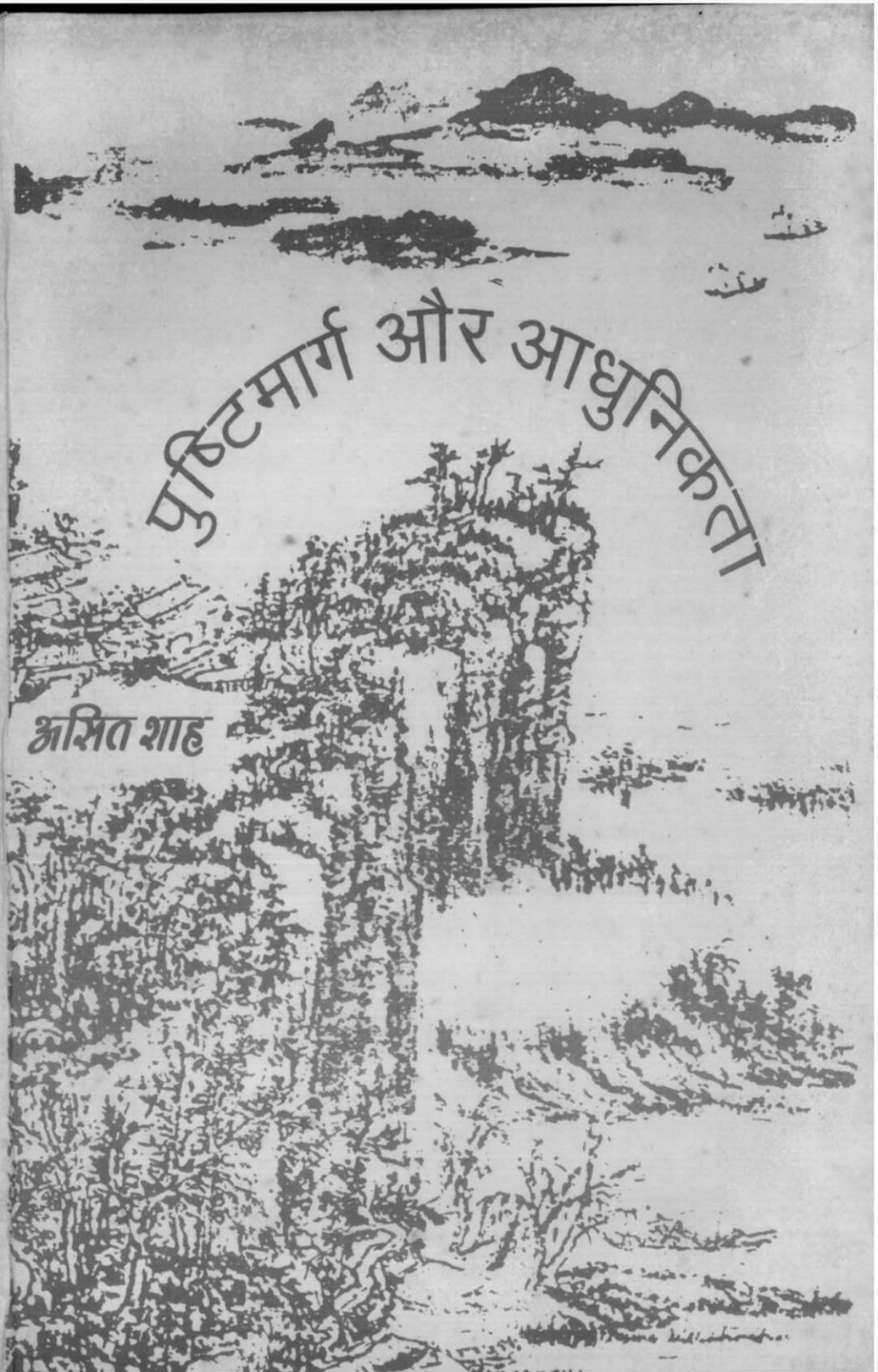

पुष्टिमार्ग और आधुनिकता

असित शाह

प्रकाशक: पुष्टिसिध्धान्तसंरक्षणसमिति
११/१२, अदिति अेपार्टमेन्ट नं. २, धनामल स्कूलके सामने, मथुरादास रोड एक्स्टेन्शन, कांदिवली (प.), मुंबई– ४०००६७.

प्राप्तिस्थल: १. श्री. एम.एच. भाटिया
४९, सुखमनि, बोमनजी पिटिट रोड, केम्प्स् कार्नर, मुंबई– ४०००२६.
फोन– ३६२१५१६, ३६७३१३१.
२. श्री. कि.क.डागा
कीर्ति नं. ४, एफ-१०२, निखालस मंदिरके पास, इतवारी, नागपुर– ४४०००२.
फोन– ७६९१६४.

प्रथम आवृत्ति, प्रति: ३०००.
प्रकाशनवर्ष: वि.सं. २०५२, सन् १९९६.

मुद्रक: श्रीनरोत्तम भाटिया
प्रफुल्लज्योति, जवाहर रोड, घाटकोपर (पू.), मुंबई– ४०००७७.

निःशुल्क.

प्रास्ताविक

बड़े-बूढ़े कहते हैं: "कुछ समझते नहीं, मानते नहीं, बहस करते रहते हैं, सामने हो जाते हैं; हम तो हमारे बड़े कहते तो...."

नई पीढ़ी कहती है: "बातबातमें डाँटते हैं, दूर रखते हैं, 'तुम नहीं समझोगे' कहकर टरका देते हैं, तर्कका जवाब भला-बुरा कहकर देते हैं; बस चुपचाप उनके कहे मुताबिक वे कहे उतना करनेका. हमारे कोचिंग क्लासवाले सर तो....."

समस्या भाषाकी है, कम्युनिकेशन गॅप की है. नई पीढ़ीकी फसल अपने साथ अपना अनोखा व्यक्तित्व लेकर आती है. रूढियों रिवाजों और परंपराओं से उनकी सहसा जम नहीं पाती. पहले वैचारिक स्तरपर तैयारी होनी जरूरी है. विरासत लेना हरेकको अच्छा लगे, अगर वह संग्रह करने या इस्तमाल करने लायक हो, 'कामका' हो. परंपरामें मूल्यवान तत्त्वोंका काफी मात्रामें होना ही पर्याप्त नहीं होता, उन्हें नई पीढ़ीके सामने उनकी भाषामें उजागर करना भी उतना ही आवश्यक है. रामचरितमानस मूल रामायणसे विरुद्ध न जाए तब तक कोई दिक्कत नहीं आती. गंगाका माहात्म्य जाननेवाला भगीरथ पूर्वजोंका भी कल्याण कर सकता है.

७५-१०० साल पहले स्थिति आजसे भी विकट थी. अंग्रेजी पद्धतिसे शिक्षित एक पूरी नई पीढ़ी अस्तित्वमें आई थी, जिसको कालिदास या कौटिल्य या कार्तिकेय की तुलनामें कोपर्निकस, शेली, बायरन या कार्ल मार्क्स के बारेमें अधिक जानकारी थी. भारतीय संस्कृतिको वे लोग अंग्रेजोंके पहनाए चश्मेंसे ही देखते थे. उनकी चोंच पुष्टिसंप्रदायमें प्रवेश कर सके उसके लिए पुष्टिमार्गके इतिहास और साहित्य को छेड़छाड़ किए बिना उनको उपलब्ध कराना, एक गंभीर चुनौती थी. एक ओर बड़े-बूढ़ोंको नाराज करना, तो दूसरी ओर युवापीढ़ीको उनकी विवेकबुद्धि, नियति और दुनिया के भरोसे छोड़ देना.

इस चुनौतीको स्वीकार करके अपने आर्थिक, शारीरिक तथा पारिवारिक अस्वास्थ्य तथा वृद्धोंके विरोध को ध्यान में न लेते पुष्टिसाहित्यको उस समयकी प्रचलित शैलीमें सर्वप्रथम मुद्रित करनेका पुण्यकार्य करनेवाले एवं सामयिक 'वेणुनाद'के माध्यमसे दोनों पीढ़ीमें विरासत देने और लेने के बारेमें जागृति लानेवाले श्रीमूलचन्द्र तेलीवालाको यह किताब अर्पण करते हुए मैं अपने आपको धन्य अनुभव करता हूँ.

यह किताब भी उनकी डगर पर चलनेकी एक चेष्टा ही है. शायद इसे समझनेमें जरा तकलीफ होगी, मगर मैं लाचार हूँ. भक्तिमार्गके अर्क

द्वारा प्रवर्तित मार्गका अनुयायी हूँ; मुझे अर्कको अर्कके रूपमें ही परोसना आता है, शरबत बनाके नहीं. मगर मुझे पूरा यकीन है कि 'जनसामान्यके लाभार्थ' पुष्टिसंप्रदायके अपठित वक्ता-लेखक अगले १५-२० साल तक इसका शरबत बना-बनाकर पिलाया करेंगे. अन्यमार्गोंका सारहीन जूठा शरबत पिलानेसे तो यही अच्छा है!

आवश्यकता परंतु हमारे जैसे दुभाषियोंकी नहीं है, एकदूसरेकी बात एकदूसरेकी भाषामें एकदूसरेको पारिवारिक स्तरपर समझाने-समझनेकी है; यदि साथमें जीना हो तो, मरनेके बाद भी जीना हो तो, शाखासे बिछडे निराश्रित पत्तोंकी तरह नहीं जीना हो तो. इस पुस्तिकाको केवल एक संदर्भग्रन्थ मानकर इस दिशामें आप स्वयं उद्यत हो, यह आजकी कडी आवश्यकता है. ऐसा होगा तो यह किताब लिखना-पढना सार्थक होगा.

गये अधिकमाससें गुजरातीमें प्रकाशित मूल किताबका यह परिवर्धित हिन्दी अनुवाद है, जिसे मेरी पत्नीने किया है और श्रीनंदकिशोरजीने जाँचा-सुधारा है.

ऋषित शाह

* * *

पढ़ने संबंधी सूचना :

१. यह किताब बहोत विचारोत्तेजक है; इसे सोनेसे पहले न पढ़ें.
२. बुज़ुर्ग वैष्णव रोज सतत पांच पृष्ठ और बालकें तीन पृष्ठ पढ़ें.
३. नवागंतुक पुष्टिमार्गी यह किताब दो बार और पुराने ढीठ पुष्टिमार्गी चार बार पढें.

चेतावनी : इस किताबको पढना रॅडीमॅड धर्मके रिटेल या होलसेल विक्रेताओं, एजन्टों, ग्राहकों, सहायकों तथा वकीलों के मानसिक एवम् आर्थिक आरोग्य के लिए अक्षम्य हानिकारक है.

अनुक्रमणिका

शीर्षक	पृष्ठ
१. उपक्रम	१
२. आदर-निरादरके स्रोत-कारण	४
३. भगवत्सेवा	७
४. सेव्यस्वरूप	३०
५. सत्संग	४१
६. भगवत्सेवक	५२
७. आचार	५९
८. व्रजयात्रा — बेठकयात्रा	६७
९. सार्वजनिक मनोरथ	७१
१०. गुरु	७५
११. ब्रह्मसंबंधदीक्षा	८१
१२. उपसंहार	८४

१. उपक्रम

"सिनेमा-जगतका जानी मानी प्रतिभा इटालियन दिग्दर्शक फेडेरिको फेलिनीका..गजबका इन्टरव्यू..पढा..फेलिनी कहते हैं कि टेलिविज़नने सब कुछ बदल डाला है. दर्शकोंको स्वयं कोई मूवमेन्ट नहीं करनी पड़ती, वे घरमें ही रहते हैं. कोई खास वेशपरिधान भी नहीं करना पड़ता. कभीकभार तो चड्डी पहने ही, नंगे ही, बाथरूममें से, बेडरूममें से टी.वी. देखते रहते हैं. जो प्रतिमाएँ (इमेज़ज) टी.वी.के स्क्रीनपर देखते हैं उनमें भव्यता, ग्रान्डियॉसिटी नहीं होती. वे इमेज़ज काफी छोटे होते हैं. सुविधाके, मौजमज़ाके डिब्बेनुमा बक्सोंसे यह इमेज़ज निकलते हैं. कुर्सीपर बैठे-बैठे, यार-दोस्तोंके साथ गपशप करते, दारु पीते, खाते, टेलिफोनपर बातें करते, और कभी कभी प्यार करते करते दर्शक टी.वी. देखते हैं. उसमें फेलिनी कहते हैं— 'देयर इज़ नो रेस्पॅक्ट'.

नैतिक अर्थमें यहाँ रेस्पॅक्टकी (आदरकी) बात नहीं है; जो कुछ परदेपर हो रहा है उसकी एकाग्र प्रतीक्षाके अभावका यहाँ निर्देश है. दर्शकके हाथमें स्वीच है; किसी भी क्षण वह ऑफ कर सकता है. पोप या कोई कवि कुछ कह रहें हो और दर्शक बोर हो जाए तो तत्क्षण उन्हें स्वीच दबाके चुप कर सकता हे और फुटबॉलका खेल देख सकता है. दर्शक अपने आपको ज्यादा शक्तिशाली महेसूस करता है. एक देशमेंसे दूसरे देशमें वह कूद सकता है. क्राइस्टपरसे फुटबॉलके खेलमें और कलात्मक चित्रोंके प्रदर्शनमेंसे पोर्नोग्राफीमें वह एक क्षणार्धमें सरक सकता है. टी.वी. मनुष्यके अत्यंत निकट आ पहुँची गूढ और भयानक चीज है. यह छोटी चीज क्याको क्या बनाकर रख देगी उसकी भविष्यवाणी करना करीब करीब अशक्य है ऐसा फेलिनी कहते हैं.

पुराने चलचित्रोंकी प्रतिष्ठा टी.वी.ने पूर्णतया कुचल डाली है. . . . दर्शक उनके पास नहीं जाते; वे दर्शकोंके घरोंमें सामने रखे बक्सेमें आ जाते हैं, डेढ घंटेके लिए. . .

फेलिनीने टी.वी.के लिए अनन्य और यथार्थ उपमा दी है: घरमें कोई खुला मुँह, जो मॅथेमॅटिकल स्टूपिडकी तरह सब उगलता रहता है. युद्ध, हकीकतव, धर्म, ईश्वर —सबको यह टी. वी.का मिक्सर घुमाता है और बनाता है कुचले हुए आलूका भुरता (मॅश्ड पॉटॅटोज़). प्रत्येक पदार्थको छोटे छोटे हिस्सोंमें तोड़कर हमेशाके लिए मिटा दिया गया है. इस अजनबी, शैतानी (डायबोलिकल) खोजका प्रयोजन तो है जानकारी देना, अज्ञानको ज्ञानमंडित करना, प्रसन्नता-स्वस्थता देना और एहसास कराना;

मगर कुछ समझमें न आ सके वैसे गूढ कारणोंसे या फिर चालाकीसे, जानकारी देनेका प्रयोजन मिट चुका है. बाढ़ की तरह ..वह सर्वनाश करता है. किसी का कुछ भी मतलब नहीं रहा."

(—श्रीलाभशंकर ठाकर लिखित 'क्षण तत्क्षण'मेंसे साभार अनुवादित).

केवल टी.वी. ही नहीं, आधुनिकतामात्रके बारेमें कहा जा सकता है की 'देयर इज़ नो रेस्पॅक्ट'. और फिर रेस्पॅक्ट-आदर-का नैतिक अर्थ यहां लो तो भी वह उतना ही यथार्थ ठहरता है. आज जीवनके हर एक क्षेत्रमें यह आधुनिकताकी, अनादरकी लहर छा गई है.

शिक्षणक्षेत्रमें ट्युशन, कोचिंग क्लासकी प्रतिष्ठा है. विद्यार्थी शिक्षकोंको सताते हैं, घेराव करते है, परीक्षामें अनीतिका आचरण करते हैं, आंदोलन करके तोड़फोड़ करते हैं. कॉलेजोमें पढाई छोड़कर सब गतिविधियाँ सरेआम होती हैं. शिक्षक और अन्य कर्मचारीगण स्वार्थके लिए इस रोगको बढ़ाते हैं. शैक्षणिक संस्थाओंमें फंड और राजकारणके खेल खेले जाते हैं.

डोक्टर और वकील स्वातंत्र्यसंग्रामके समयमें थे उतने अब आदरणीय नहीं रहे. सेवाभावी व्यक्ति इन पेशोंमें अपवाद ही हैं आज.

खेल अब खेल नहीं रहे. खिलाडी मेदानमें और बाहर नियमों या आचारसंहिता का सरेआम उल्लंघन करते हैं. अम्पायर, सिलेक्टर या प्रतिस्पर्धी टीमके खिलाडियोंकी मानहानि करते हैं, नशीले पदार्थ लेते हैं, कलासे ज्यादा बलका ओर पोज़ीटीवसे ज्यादा नेगेटीव शैलीका इस्तेमाल करते हैं. पैसा और प्रसिद्धि जुटानेका और टीममेंसे निकाल दिए जानेका तनाव लिए खेलते हैं. अम्पायर और सिलेक्टर भी हर वक्त तनावमें रहते हैं. प्रेक्षकगण बारबार हिंसापर उतारु हो जाते हैं और खेल रुकवा देते हैं. प्रसार-माध्यम खेलके बजाय सनसनीखेज खबरोंको प्रधानता देते हैं. उसके अलावा राष्ट्रीय या आंतरराष्ट्रीय राजनीति भी खेलमें दखलंदाजी करती है. मौज और आनंद कहीं भी नहीं दिखते. संघभावना भी अपवादरूपसे ही दिखती है.

पंडित भीमसेन जोशीने कुछ समय पहले दी एक मुलाकातमें खेद प्रकट करते हुए कहा था कि अब पहले जैसे शिष्य नहीं मिलते. हम गाना सीखे तो चौदह साल तक और वह भी रोज तेरह-चौदह घंटे रियाझ करके: जबकि आजके शिष्योंको दो-तीन सालमें 'स्टार' या 'आंतरराष्ट्रीय प्रतिभा' बननेकी धांधली होती है. अनेक वृद्ध कलाकार अक्सर कहते होते हैं कि पहले से श्रोताओंकी संख्या काफी बढ़ गई है मगर रसिक श्रोता उनमेंसे पांच प्रतिशत भी नहीं होते. आधा घंटा हुआ नहीं की

आना-जाना, उबासियां, शोरशराबा, खाना-पीना चालू हो जाता है. नृत्यकारों, चित्रकारों और नाट्यकारों का अनुभव भी प्रायः इससे मिलता-जुलता ही होगा.

धर्मका क्षेत्र भी इससे बच नहीं पाया. वह भी मानों कुरुक्षेत्र-सा हो गया है. जनसेवा, प्रभुसेवा, सत्संग, स्वाध्याय, जप, तप, योग, ज्ञान, कर्म, तीर्थाटन, कथा, संन्यास, गृहस्थी — कुछ भी ढंगसे नहीं चल रहा.

एक ओर यह आधुनिकता है तो दूसरी ओर भारतीय संस्कृति है. आजकी तारीखमें यह कहाँ तक अपनी हैं वह विचारका विषय है. मगर भारतमें पनपी होने के अर्थमें उसे अवश्य हम भारतीय कह सकते हैं. उसे हम आदर संस्कृति भी कहे सकते हैं— "अतिथिदेवो भवः" "गुरुदेवो भवः" "मातृदेवो भवः" . . . नदी, वृक्ष, पाषाण, अग्नि, पशु, पक्षी, पूर्वज, वंशज —सभीके प्रति बस आदर, आदर और आदर! आज भी आधुनिकताके शोरशराबेके बीच सुनाई पड़ती या याद आती उसकी कुहूकन जीवनकी पतझड़में दो पलके लिए बसंत आ गई होनेका झांसा देके विश्राम देती है.

पुष्टिमार्ग भारतीय संस्कृतिकी पर्वतमालाका ही एक उन्नत शिखर है. पुष्टिमार्गको देशकालके बंधन नहीं बांध पाते; पुष्टिमार्गी अभारतीय भी हो सकता है, गोरी, काली, पीली या लाल चमडीका भी हो सकता है. किन्तु उसकी साधना भारतीय संस्कृतिके अनुरूप होनी आवश्यक है. पुष्टिमार्गकी साधनाप्रणालीमें भारतीय संस्कृति तानेबानेकी तरह बूनी हुई है. मगर वह तो 'असली' प्रणाली. आज चल निकली हुई प्रणालियोंमें तो निरी आधुनिकता, निरा अनादर ही झलकता है. हर एक साधकको नीरक्षीरविवेक रखना इसलिए आज अनिवार्य है.

*

२. आदर – निरादरके स्रोत – कारण

आधुनिकता बेशक पश्चिमकी देन है. फिर भी एक बात निश्चित है कि वहाँ भी वह विकृतिका ही रूप लिए है; स्वाभाविक पाश्चात्य संस्कृति और आधुनिकता को एक मानना ठीक नहीं है. फेलिनीका इन्टरव्यू यही बातको उजागर करता है.

पाश्चात्य संस्कृतिमें मानव और कुछ अंशमें मानवीय सर्जनोंका आदर है किन्तु कुदरत, कुदरती सर्जन या पशु-पक्षी-वनस्पति के प्रति घृणाका ही भाव है. इसके मूल बाइबलमें रहे हुए हैं. उसकी एक मान्यता, कि मानव स्वर्गका निवासी था और अपने अपराधकी सजा भुगतने पृथ्वी पर आया है, पृथ्वीके लिए नफरत पेदा करती है; उसके प्रति आत्मीयताका भाव जगने नहीं देती. दूसरी मान्यता, कि चेतना केवल मनुष्यमें ही है और पशुपक्षीयोंमें नहीं है तथा सजीव-निर्जीव सब कुछ केवल मनुष्यके उपभोगके लिए ही ईश्वरने बनाए हैं, उनके प्रति मानवका कोई कर्तव्य है ही नहीं —ऐसा माननेको विवश करता है. कोई कंपनी अपने अफसरको एक गाड़ी इस्तमालके लिए दे तो वह कंपनीकी मालिकीकी तो होती ही है और अफसरको जरुरत न हो तो कंपनी अपने काममें भी उसे इस्तमाल कर सकती है. जबकी यहाँ तो ईश्वरने सृष्टि सिर्फ मानवके लिए ही बनाई है. अफसरको कंपनीकी संपत्ति समझके भी गाड़ीका रखरखाव करनेकी कोई जरुरत नहीं है. फिर आदर रहे कहाँसे?!

ईसाई धर्मने केवल मानव और ईश्वर को ही आदरणीयोंकी सूचिमें शेष रहने दिए थे, जिन्हें बादमें सायन्स और टॅकनोलॉजीने पदभ्रष्ट कर दिया. मॅडिकल सायन्स कृत्रिम जन्म, जीवन, मरण सब कुछ रच सकता है. ऐसे घातक शस्त्रास्त्र बनाए गए हैं जिनसे मनुष्योंको कीड़ों-मकोड़ोंकी तरह एकसाथ मारा जा सकता है. ईश्वरके स्थान पर खुद विज्ञान चढ़ बैठा है जो ऐसे सब काम करने समर्थ है, जो कि एक जमानेमें सिर्फ ईश्वर ही कर सकता है ऐसा माना जाता था.

मगर विज्ञान वह सब भी करने समर्थ है जो एक जमानेमें शैतान ही कर सकता है ऐसा माना जाता था. और फिर उसके कुछ असामर्थ्य भी उभर कर सामने आते हैं. इसलिए विज्ञान स्वयं भी आदरपात्र नहीं रहा. वह अच्छा है या बुरा यह उसके सवार पर निर्भर करता है.

बाइबल और विज्ञान के अलावा इस शताब्दीमें पनपे या फूलेफाले ऐसे अनेक कारण हैं जो आदरके जन्मजात शत्रु हैं— शहरका घनी

आबादीवाला जीवन, सूचनाओंकी बौछार करते प्रसार माध्यम, घटिया मनोरंजन, व्यापारीकरण, समय और पैसे का बढा हुआ महत्व, चाहिए वह चाहिए उतना चाहिए तब सरलतासे प्राप्त होना, टुच्चा नेतृत्व, असंयतता, अनाचार, इत्यादि.

राजकीय विचारधाराएँ भी इसमें अपवाद नहीं हैं. चाहे लोकशाही हो या साम्यवाद, आदर्श नागरिक बननेमें ही मनुष्यके कर्तव्यकी इतिश्री हो जाती है और नागरिकोंकी प्राथमिक आवश्यकताएँ पूरी करनेमें शासकोंके कर्तव्यकी. और कोई नैतिक या धार्मिक ऊंचे दर्जेका आदर्श ही सामने नहीं है. जनता शासकोंको अपनेसे महान समझकर आदर नहीं देती मगर वह अपनी सेवा करे ऐसी अपेक्षा रखती है. शासक तो नागरिकोंको वोटबेन्क ही मानता है. ओपन मार्केट इकोनॉमी जैसी आर्थिक विचारधाराओंमें पैसेका ही आदर है. मनुष्यको पैसे कमाकर संतोष नहीं होता पर उसे फूंकनेकी या फिर घरवाले या लेनदारों के हाथोंमें फेंकनेकी ही इच्छा होती है.

परिवार या समाज के स्तरपर स्वार्थ और गैरजिम्मेदारी बढ़ते जा रहे हैं. माँबाप बच्चोंको होस्टेलमें या नौकरोंके भरोसे छोड़ते हैं और संतान बूढे माबापको वृद्धाश्रममें भेजते हैं या फिर नौकरोंकी तरह रखते हैं. गुन्हाओंके, आत्महत्याके, अकस्मातोंके किस्से बढ़ते ही जा रहे हैं. व्यसन, व्यभिचार, आदिकी तो बात ही छोड़ो.

ऐसा ही चलता रहा तो क्या होगा उसका भवितव्य पर्यावरणशास्त्रीओंने बता ही दिया है. इस स्थितिसे हमें लौटना ही पड़ेगा.

सृष्टिके प्रति भारतीय दृष्टिकोण कुछ अनोखा ही है— आत्मीयताकी भावनासे छलकता, अहोभावसे भरा.

उपनिषदोंके अनुसार एकाकी ऐसे ईश्वरको खेलनेकी इच्छा होनेपर उसने जिनसे खेला जा सके वैसे विविध नामरूप स्वयं धारण किए. ब्रह्मांडमें जो कुछ स्थूल-सूक्ष्म व्यक्त-अव्यक्त स्थावर-जंगम है वह सब ईश्वर ही बने हैं. सृष्टि, और स्वयं मनुष्य भी, भगवानकी क्रीड़ाके लिए ही बनाए गए, सब भगवानने स्वयं ही धारण किए हुए रूप हैं. उसके अलावा भगवान जगतके उद्धारार्थ मत्स्य, वराह, हयग्रीव, नरसिंह, इत्यादि रूपोंसे अवतार भी लेते हैं. स्वयं ईश्वरकी सृष्टि के साथ इतनी आत्मीयता है तो मानवकी तो बात ही क्या! सृष्टिमें विविधता या भेद तो हैं ही और क्योंकि भगवदिच्छा वैसी है इसलिए रहेंगे ही; मगर वे सब क्रीड़ार्थ भगवानने धारण किए हुए भेद हैं.

इस बुनियादी मान्यता पर आधारित धर्मशास्त्र क्रीड़ार्थ भेदको ही पुरस्कृत करते हैं— वृक्षोंको दत्तात्रेयकी तरह गुरु मानो, परोपकारी सत्पुरुष मानो, भगवान मानो, गोद लिया हुआ पुत्र मानो... सब कुछ शक्य है; वृक्षके वृक्षत्वको और मनुष्य की मनुष्यताको बरकरार रखकर. आदर-रेस्पॅक्ट तब ही शक्य है जब आदर देनेवाला अपने और आदरणीयके स्वरूपको अपनी स्वभावमर्यादामें समझकर अहोभावपूर्वक दोनोंके भेद या तारतम्य का स्वीकार करता है. ऊपर बताए हुए कारण स्वरूपकी समझ, स्वभावमर्यादा, अहोभाव या भेदबुद्धिको रोंद देते हैं, उसपर पानी फिरा देते हैं, सृष्टिके साथ अपने सुरको मिलने नहीं देते, हमें स्वस्थ नहीं होने देते. परिणामस्वरूप हमें और सृष्टिको दोनोंको नुकसान होता है.

सृष्टिके नियमको हमें अनुसरना होता है; नियम हमें अनुसरें ऐसा नहीं हो सकता. नियम तो सत्यको ही अनुसरते हैं. कोई भी आध्यात्मिक साधनाप्रणाली साधकको शुरुसे शत प्रतिशत अनुकूल आ जाएं ऐसी होती ही नहीं है. साधक लगा रहे तो धीरे धीरे उसको वह अनुरूप हो जाती है, बिना शक्करके चाय-दूधकी तरह. अनुकूल हो जाए इसलिए साधकको अपने आपको साधनाप्रणालीके अनुरूप बनाना पड़ता है; साधनाप्रणालीको अपने अनुरूप नहीं बनानी चाहिए, वह तो फलके अनुरूप ही होती है. यह मौलिक तथ्य भूलकर पुष्टिसम्प्रदाय आज किंकर्तव्यविमूढ हो गया है.

*

३. भगवत्सेवा

"सो वह नित्य बडे सवारें उठिके श्रीगोवर्धनकी परिक्रमा करन जाँई. सो श्रीनाथजीके दरसन आई करें. पाछें श्रीगुसांईजी तथा कोई और बालक श्रीनाथजीमें होई तिनके दरसन करे. पाछे..श्रीनाथजीकी ध्वजाकों समर्पिके प्रसाद लेई. या भांति अपने दिन निर्वाह करें. . . मोसों श्रीगुसांईजी कबहू बोलत नाहीं सो कारन कौन भांति जान्यो जाई? —यह याके मनमें संदेह रहे. . .

तब याके मनमें आई जो आज तो परिक्रमाकों भोग आवेगो तब जाउंगो, तातें अब तो कछु टहल करुं. . . सो याने..प्रथम सर्व मार्ग आछी भांति झार्यो. पाछें पैंडेमें कहूं एक कांकर रहन न दीनो —या प्रकार कांकर बीने. सो याके मनमें यह भाव आयो जो..श्रीठाकुरजीके तथा श्रीगुसांईजीके चरन अति कोमल हैं, सो कांकरको स्पर्श न होईगो. . .

तब श्रीगुसांईजी वा वैष्णवसों कहे जो वैष्णव! इतने दिनतें तो तुम अपनी देहको साधन करत हते. और आज तो तुम साधन छोरिके सेवा करे. तासों आज हम तुमतें बोले. . . यह वैष्णव तो ता दिनतें सेवाकों फल जानि साधन छोरिकै सेवा करन लाग्यो. तबतें श्रीगुसांईजी वा उपर बोहोत प्रसन्न रहते. यह विरक्त प्रभुनकों प्रसन्न जानिकै आपहू बोहोत प्रसन्न रहतो."

"बहुरि एक समय रुकिमिनीकी देह असक्त भई. तब रुकिमिनीने कह्यो— अब देह छूटे तो आछो; जा देहतें भगवानकी सेवा न भई सो देह कौन कामकी?"

"ऐसे करत कछुक दिनमें एक बेटा वाको बडो मरि गयो. . . दूसरो बेटा छोटोहू मरि गयो. तब अम्मा बहोत रोवन लागी. . .

भावप्रकाश— ..दोउ श्रीठाकुरजीके खिलौना बेटा हते. सो अब किनसों खेलेंगें? –या भावसों अम्मा रोवती. तातें श्रीठाकुरजी अम्माके उपर प्रसन्न व्हैकें बरजते. अम्माको दुःख सहि न सकते. और जो पुत्रको ममत्व करिके रोवती तो श्रीठाकुरजी न बोलते."

"तब श्रीआचार्यजी महाप्रभु पंचामृतसों स्नान कराय स्त्री-पुरुषके माथे (स्वरूप) पधराये. पाछें सिंहनदके वैष्णव श्रीआचार्यजीके दरसनकों आये हते तिनसों कहे— ये दोउ स्त्री-पुरुष हमारे हैं. तातें इन दोऊ कोई

प्रकारसों दुःख न पावें सो करियो. . .

तब स्त्री-पुरुष दोऊनके माबाप इनकी निंदा करन लागे. जो पहले तो दोऊ बडे त्यागी हते. अब वैष्णवसों भीख मांगिके निर्वाह करत हैं. पराये घरमें जाय रहे... ठाकुर ले बडे भक्त भये हैं लोगनकों ठगिवेकों. . . तब स्त्रीने कही जो तुमारे हमारे मा-बाप सांचे हैं. अपने पास कहा हतो, एक कोडी न हती. सो सब वैष्णवने श्रीआचार्यजीके सेवक जानिकें करि दियो है. सो अब अपने सुखी हैं. परंतु या प्रकार श्रीठाकुरजी सेवा मानेंगे नाहीं. अपुनो धर्म नास भयो..अपुने निंदा ही जोग हैं. काहेतें, श्रीठाकुरजी प्रसन्न करिवेके लिये श्रीआचार्यजीकी सरनि आये, सेवा पधराये; कछु वैष्णवसों पूजायवेके लिये, अपुनी बडाईके लिये वैष्णव नाहीं भये. . .

तब..श्रीठाकुरजीकों पधराय स्त्री-पुरुष निकसी चलें. काहू वैष्णवकों, माबापकों जतायें नाहीं. सो वे दोऊ कछुक दिनमें आगरे आय रहें. . . तब श्रीठाकुरजी सुद्ध भाव देखि अनुभव जनावन लागें."

"तब श्रीआचार्यजी कहें जो अबही तेरो चित्त द्रव्यमें है. तातें भगवद्नाम अबही तोकों फलेगो नाहीं. तातें तू जायके समुद्रके तीर बैठि. समुद्रकी लहरिमें तोकों द्रव्य मिलेगो. ता द्रव्यतें जो मनोरथ श्रीजगन्नाथरायजीको विचार्यो है सो पूर्ण करो. पाछें सरनि लेंयगे. . . तब नरहरदासने कही— महाराज, द्रव्यमें मेरो मन बहोत है सो जस करिवेकों. जो मन मान्यो खरचूं, पिताहू सुनिकें लाज पावें जो जगन्नाथरायजी ऐसे ठाकुर हैं..अनेक वागा, वस्त्र, आभूषन, रसोईकी सामग्री श्रीजगन्नाथरायजीकों कियो. . .

मनको मनोरथ हू पूर्ण करि नरहरदास श्रीआचार्यजीके पास आय दंडवत् करि बिनती करी जो महाराज, मोकों कृपा करिकें सरनि लीजिये. अब मेरो मन काहू बातमें नाहीं है. आपकी सरन होनमें है..तब श्रीआचार्यजी नाम सुनाय निवेदन कराये. तब नरहरदासके हृदयमें पुष्टिमार्गको ज्ञान भयो. तब श्रीआचार्यजीकों दंडोत करि बिनती किये— महाराज, मैं बहोत बुरो काम कियो है जो श्रीठाकुरजीकों श्रम कराय द्रव्य लें अपुनो जस प्रकट कियो है. मैं महादुष्ट, सो मेरो जैसो को कहा? उलटो मन होय परलोक बिगरें. तातें मोकों धिक्कार है. ठाकुरको द्रव्य ले ठाकुरकों मनोरथ कर्यो. तामें बडो स्वार्थ अज्ञान करिकें मान्यों. अब मैं आपकी सरनि हों. मेरो परलोक सुधरें, श्रीठाकुरजी कृपा करें, सो प्रकार मोसों कहो. तब नरहरदाससों श्रीआचार्यजी कहें— तुम श्रीठाकुरजीकी सेवा करो."

"पाछें संतदासकी देह बहोत असक्त भई. सो भूमि-सयन किये.

तब आगरेके सब वैष्णव आई जुरें. तब सब वैष्णवनने कही जो तुम कहो तो श्रीगोकुल ले जाई तुमकों. तब संतदास कहें– अब हों गोकुल जाई कहा राख उडाऊं? श्रीगोकुलकी सेवा तो मोसों कछु बनी नाहीं आई.''

''सो गोपालदासके बेटासों श्रीआचार्यजी महाप्रभु पूछे, जो गोपालदास कहां गये हैं? तब गोपालदासके बेटाने कही, जो महाराज, श्रीठाकुरजीकी सेवाकों गये हैं. यह वचन सुनि श्रीआचार्यजी महाप्रभु गोपालदासके बेटा पर बहोत अप्रसन्न भये. . . इतनेमें गोपालदास आय श्रीआचार्यजी महाप्रभुनकों दंडवत् कियो. तब श्रीआचार्यजी कहें, जो गोपालदास, तू कहां गयो हतो? तब गोपालदासने कही– महाराज, पेट लाग्यो है सो कछु व्यावृत्तिकों गयो हतो. यह वचन सुनि गोपालदास उपर श्रीआचार्यजी महाप्रभु बहोत प्रसन्न भये. कहे, वैष्णवकों ऐसो बोलनो उचित है; ऐसो बोलनो नाहीं जो व्यावृत्ति लौकिककों जाई तहां श्रीठाकुरजीकी सेवाको नाम लेई.
भावप्रकाश— पुष्टिमार्गीकी यह रीत है जो सेवामें जाई तऊ लौकिकको नाम लेई; भगवद्धर्मको प्रकास न करें, सो भगवदीय. आछे जीव न होय सो लौकिकमें हू अपनी बडाई अर्थ सबके आगे भगवद्सेवाको नाम लेई.''

सेवा कयों करनी चाहिए अर्थात् सेवाका प्रयोजन क्या है उस बारेमें बहोत सारे पुष्टिमार्गी वक्ता-श्रोता आजीवन वंशपरंपरागत अज्ञानमें छके रहते हैं.

ब्रह्मसंबंधदीक्षाके रूपमें आत्मनिवेदन करनेके बाद हमारा ऐहिक एवं पारलौकिक सब कुछ भगवत्सेवार्थ ही है. श्रीहरिरायचरण आज्ञा करते हैं कि सेवा करनेमें ही देहादि सर्वकी सार्थकता है. श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि पुष्टिजीवोंका सृजन ही भगवत्सेवार्थ है. इस प्रकार पुष्टिमार्गीका सर्जन या जीवन का प्रयोजन सेवा है, सेवाका प्रयोजन कुछ नहीं हैं. सेवा करनेसे कोई मेवा नहीं मिलनेवाले. मेवा पानेकी आशासे सेवा करनेपर क्लेश ही होगा, दुविधामें दोनों जाएंगे. श्रीआचार्यचरण सिर्फ उतना ही वचन देते हैं कि आजीवन निष्ठापूर्वक सेवा या कथा करते रहोगे तो तुम्हारे भगवद्भावका नाश नहीं होगा, प्रभुका आश्रय और स्नेह बने रहेंगे. और फिर यह आजीवन सेवा या कथा का निभाव भी प्रभुकृपा होगी तब ही होगा; स्वर्ग या वैकुंठादि का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता. वाल्लभ सिध्धांत यह नहीं है कि ब्रह्मसंबंध ले लिया या बैलके सिंगपर सरसोंका

दाना टिका उतनी देर भी भगवद्नाम ले लिया तो बस कृतार्थ हो गए. इस मार्गमें तो यह हाल है कि पलभर भी भगवद्नुसंधान छूटा तो आसुरावेश हुआ ही समझो.

स्थिति यह है. श्रीआचार्यचरण इस बारेमें किसीसे भी कुछ छिपाना नहीं चाहते. श्रीहरिरायचरण स्पष्ट आज्ञा करते हैं कि सेवा स्वधर्मतया ही आजीवन श्रीआचार्यचरण द्वारा उपदिष्ट प्रकारसे ही करनी चाहिए; न कोई फलके लिए न भोगके लिए न प्रतिष्ठा या प्रसिद्धि के लिए और न ही कोई कल्पित प्रकारसे या दुर्भावपूर्वक.

सेवा ऐसी दिव्य है कि वह आत्मनिवेदनकी कक्षा तक पहुँचे भक्तके लिए भी जीवनका अप्राप्त लक्ष्य या आदर्श बन सकती है:''सेवा तो बाप-बेटा कर गये, और तो सब लकीर पीटत हैं''!

भगवानने गीतामें चार प्रकारके भक्त गिनाए हैं:

(क) आर्तभक्त— सांसारिक आर्ति– आधि, व्याधि, उपाधि– दूर हो जाए ऐसी कामनासे भजनेवाले.
(ख) अर्थार्थीभक्त— लोक और परलोक में वैभवी जीवन मिले वैसी कामनासे भज़नेवाले.
(ग) जिज्ञासुभक्त— ब्रह्मका ज्ञान पानेके लिए भजनेवाले.
(घ) ज्ञानीभक्त— ब्रह्मज्ञानी होने के बाद भी भजनेवाले.

पहले तीन सकाम भक्त हैं जबकि चौथे प्रकारके निष्काम भक्त हैं. पुष्टिमार्गमें सिर्फ निष्काम भक्तोंको ही मार्गदर्शन दिया जाता है. अर्थार्थी भी भक्त तो होता है; मगर पुष्टिमार्गी नहीं, जघन्य प्रवाहमार्गी. श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं— ''शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः भगवत्सेवने योग्या नान्यः.'' अर्थात् भगवत्सेवा करने योग्य वही व्यक्ति है कि जो शुध्ध, सुखी और ब्रह्मविद्याविशारद हो. आर्तभक्त सुखी नहीं होते, अर्थार्थीभक्त वासनाग्रस्त होनेकी वजहसे शुद्ध नहीं होते और जिज्ञासुभक्त ज्ञानी न होनेके कारण ही ज्ञान मिलते ही भक्ति छोड़ देते हैं. आजीवन भक्त वही हो सकता है जो भक्ति अन्य प्रयोजनोंसे न करता हो. दूसरोंके लिए तो काम बन गया कि छुट्टी; कामनापूर्ति हुई नहीं कि भजन छूटा ही समझो.

दूसरे दृष्टिकोणसे देखनेपर सेवाका एकमात्र प्रयोजन प्रभुसुख है और सेवाका एकमात्र फल प्रभुकी प्रसन्नता है. प्रभु प्रसन्न होकर पुष्टिजीवको प्रेम, आसक्ति और व्यसन की क्रमिक अवस्थाओंके रूपमें व्रजभक्तोंकी तरह अपने दिव्य आनंदका अनुभव कराए वह सहज संभव हैं. श्रीआचार्यचरण इस बारेमें आशावादी हैं ही. मगर उसका मतलब ऐसा नहीं हैं कि

"हम तीस सालसे सेवा कर रहे हैं फिर भी ठाकुरजी क्यों नहीं बोलते हैं? हम सेवा क्यों न छोड़ दें?" यह पुष्टिमार्गमें प्रभुकी कृपा – अनुग्रह – ही नियामक है. श्रीआचार्यचरण इसकी कोई गारंटी नहीं दे रहे हैं कि सेवा करते हुए यह सब होगा ही. इतना जरूर है कि आपश्रीके कहे अनुसार सेवा करनेसे बाजी और ज्यादा नहीं बिगड़ेगी, दिव्य स्वरूपानंद मिलनेकी संभावना कम नहीं हो जाएगी. मगर सेवा करनेसे हम बाजी मार जाएंगे ऐसा कुछ नहीं हैं. मेघ तो निरपेक्षतया अपने स्वभाव के अनुसार बरसता है; यदि पात्र उसे धारण करनेको योग्य होगा तो मेघ उसको अपने नीरसे भर देगा, वरना नीर बह जाएगा. सेवा करनेसे हम दिव्य आनंदको धारण कर सके ऐसे पक्के घट सिर्फ बनते हैं, घटको भरना या नहीं यह प्रभुकी रुचिका सवाल है. प्रभुकी रुचिकी नाड़ी परखनेवाले श्रीमहाप्रभुजीके मंझे हुए हाथोंसे ठोक-पीटकर तैयार हुआ घड़ा प्रभुको देखते ही पसंद आ जाए वैसी अत्यधिक संभावनाएँ हैं मगर अंततः यह सिर्फ संभावना ही हैं.

कभीकभाक लोकप्रिय कलाकारों और दिग्दर्शकों के नाटक-सिनेमा भी पिट जाते हैं. मा-बाप व्यापक छानबीन करके सुपात्र पतिके साथ कन्याका ब्याह करा दे और घर बसा दे फिर भी कन्या सुखी न हो पाए ऐसा जोखिम तो रहता ही है. आशावादी मा-बाप दुःखी दाम्पत्यके किस्से सुन-सुनकर हिंमत नहीं हारते. हमें भी यह तैयारी रखकर ही पूरे होशहवासके साथ सेवा करनेका जोखिम उठाना ही चाहिए.

ऐसे आशास्पद प्रारंभका सिलसिला जीवनभर बनाए रखना सचमुच कठिन काम है. श्रीआचार्यचरण उससे वाकिफ हैं ही. आपश्रीने सर्वनिर्णयनिबन्धमें इस बात का उपदेश दिया है कि जीवनभर हम शुद्ध, सुखी और ब्रह्मविद्याविशारद कैसे रह सके, वैसे रहकर भगवत्सेवा किस तरहसे कर सकें.

सबसे प्रथम आवश्यकता है योग्य गुरुकी. गुरु स्वयं शुद्ध, सुखी और ब्रह्मविद्याविशारद होने चाहिए, आजीवन सेवा करनेवाले होने चाहिए. आपश्री इस हद तक आज्ञा करते हैं कि सेवक होनेके उत्सुकोंको गुरुकी कसौटी करनेके बाद ही किसीको गुरु बनाना चाहिए. कसौटी सरल है— गुरु सेवापरायण है कि नहीं, सेवा दंभादिके वश करते हैं या अंतःकरणसे, श्रीभागवतजीको जाननेवाले हैं या नहीं. अंतःकरणपूर्वक सेवा करनेवाले 'परोपदेशे पांडित्य' या 'पोथीके बैंगन' की मनोवृत्तिवाले नहीं होंगें. अर्थार्थीजनसुलभ दंभादियुक्त या आर्तजनसुलभ संताप या भड़ास निकालनेवाले नहीं होंगें. श्रीभागवततत्त्वज्ञ होंगें वे जिज्ञासुसुलभ चंचलतायुक्त नहीं होंगें; श्रीभागवतजीमें निर्दिष्ट सिद्धांत अनुसार सेवासाध्य भक्तिको ही परमफल मानकर उसमें ही

लगे रहेते होंगें.

दैवी जीवोंपर कृपा करके श्रीमहाप्रभुजीने अपना वंश प्रकट किया है जिसमें श्रीगोकुलनाथजी, श्रीहरिरायजी जैसे समर्थ गुरु प्रकटे हैं, कम मात्रामें ही सही फिर भी प्रकट रहे हैं और नियम नहीं तो अपवादरूप से भी प्रकटेंगे तो अवश्य ही. फिर भी यदि देशकालवशात् उपर्युक्त लक्षणोंवाले गुरु न मिले तो भी श्रीआचार्यचरणको गुरु मानकर भी सेवामें तो जल्दी से प्रवृत्त हो ही जाना चाहिए. गुरुका योग्य आदरसत्कार करना चाहिए और उनकी आज्ञा अनुसार सेवा करनी चाहिए.

हम सुखी रहकर भगवत्सेवा कर सकें इस हेतुसे श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि जो कुछ सुविधा, सामर्थ्य, सामग्री तुम्हें प्राप्त हैं उससे सेवा करो— 'यथालब्धोपचारकैः'. मेरे पास यह या वह नहीं हैं ऐसा सोचकर दुःखी मत बनो, प्रभुने जो दिया है उससे प्रसन्न रहकर सेवा करो.

"सो गदाधरदासकों श्रीमदनमोहनजी सानुभावता जतावते. आगे जजमानके घर जाते; जो चाहिये सो ले आवते. वैष्णव भये पाछें अव्यावृत्तसे रहते. सो सब ठौरको जानो छोड़ दियो. जो आवे तामें निर्वाह करें. . बहोत संग्रह करें नाहीं. . . सो एक दिन भगवदिच्छातें जजमानके घरतें कछु आयो नाहीं. तब मंगलामें जलकी लोटी भोग धरे. सिंगारमें राजभोगमें जल ही धरे. पाछें उत्थापनतें सेन पर्यंत जल ही धरे. परंतु उधारो न लिये. . . सो तब एक जजमान आयो. गदाधरदासकों पुकारि किंवाड़ खोलाईके रुपैया चार और कछु वस्त्रादि दियो. और कह्यो जो आजु मेरे सुद्ध श्राद्ध हतो ताकी दक्षिणा लेउ. . तब गदाधरदासकों विरह बहोत, जो बेगिही कछु धरिये. यह भावसों एक रुपैया ले सामग्री लेनकों बजारमें बेगे गये. . . सो लैके आई घरमें नहाई श्रीठाकुरजीकों भोग धरी. पाछें श्रीठाकुरजीकों पोढाई वैष्णवनकों बुलाई महाप्रसाद सब लिवाई दियो. आपु भूखे ही सोई रहे. परंतु मनमें सुख पाये, जो श्रीठाकुरजी आरोगे और वैष्णवनको नागो न पर्यो. पाछें तीन रुपैयाको सीधोसामान लाई सामग्री करि भोग धरी."

यहाँ कामकाज छोड़कर हाथपर हाथ धरकर घर बैठे रहनेका निष्क्रियताका उपदेश नहीं है मगर सेवाके बहाने पैसे कमानेके लिए जरुरतसे अधिक सक्रिय न होनेका उपदेश है. जो कुछ मिला है उसमें खुश रहो.

"सो श्रीठाकुरजीसहित कुटुंबसहित अडेलमें आये. सो कछुक दिन रहे. परि द्रव्यको संकोच बहुत हतो. तातें श्रीठाकुरजीकों भोग समर्पि सो छोला तलिके समर्पे. . सो या भांति— पातरिमें एक मूठि दारिकी भावना

करते, एक मूठि भातकी. एक मूठि खीरकी. सागादिक सबको नाम ले न्यारि न्यारि मूठि धरतें. सो श्रीठाकुरजी सगरी सामग्रीकों भावसों आरोगते. या प्रकार नित्य करें..सो एक दिना श्रीआचार्यजी भोग समर्पवेकी बिरियां पद्मनाभदासके घर पधारे. . . तब श्रीआचार्यजी महाप्रभुनको हृदय भरि आयो. और जान्यो जो याके द्रव्यको संकोच है तातें यों करत है परंतु द्रव्यको उपाय नाहिं करत है. बड़ो धैर्य है. तातें याके उपर श्रीठाकुरजी बड़े प्रसन्न है. . .

श्रीमथुरानाथजीसों पूछे जो महाराज, आपकों श्रीआचार्यजीके घर पधारिवेकी ईच्छा होय तो उहां नाना प्रकारकी सामग्री हैं. मेरे ईहां तो जो समय जैसो प्राप्त होई तैसो धरुंगो. तब श्रीमथुरानाथजीने कही– मोकों तेरो कियो भावत है. तातें जो धरेगो सो प्रीतितें आरोगूंगो."

श्रीठाकोरजी उत्तमोत्तम सामग्रीके भोक्ता हैं मगर उत्तमोत्तम उन उन सेवककी मर्यादाके हिसाबसे तय होगा, सामग्रीके हिसाबसे नहीं.

"सो वह ब्राह्मनी निष्कपट भोली बहोत हती और निष्किंचन, द्रव्य नाहीं. सो माटीके कुंजा श्रीठाकुरजी आगे भरिके राखे. रसोईमें हू माटीके पात्र. और घरहू निपट छोटो. वही घरमें रसोई, मंदिर, श्रीठाकोरजीकों सामग्री. आचार क्रियाहू बहोत समझे नाहीं और नेत्रनसों हू थोरो दीसे. सो प्रीतिपूर्वक सेवा करे. . . पाछे एक दिन एक वैष्णवनें श्रीआचार्यजीसों विनती करी..श्रीठाकुरजी काहू और वैष्णवके माथे पधराई देउ तो सेवा भलीभांतिसों होई. तब श्रीआचार्यजीने कही — आचार, क्रिया, द्रव्यसों श्रीठाकुरजी प्रसन्न नाहीं, श्रीठाकुरजीमें प्रीति चहिये. सो उह ब्राह्मनीकी परमप्रीति है. जैसे उह ब्राह्मनी करत है तैसेही श्रीठाकुरजी मानी लेत हैं."

"तब श्रीनाथजीद्वार आई श्रीगोवर्धनधरकी परचारगी करन लागे. दोऊ समयके पात्र मांजे. रात्रि पहर देढ रहे पाछली, तब उठि देहकृत्य करि न्हाईके गागरि ले मथुरा आई श्रीयमुनाजलकी गागर भरि राजभोग पहले आवते. पात्र सब मांजि रसोई पोति अपने सब सेवासों पहोंचि..पाछें सेनभोगके पात्र मांजते. रसोई पोति सेवासों पहोंचि सेन करते. या प्रकार सेवा करते. परंतु श्रीगोवर्धनधरनाथजीकों आछो न लागतो. तब श्रीगोवर्धनधरने अडेलमें श्रीआचार्यजी महाप्रभुनसों कह्यो जो तिहारे सेवक मोकों बहुत खिजावत है.

भावप्रकाश — ताको कारन यह जो भाव प्रीतिसों ऐसी सेवा करें, तो श्रीगोवर्धनधर वाके पाछे लगे डोलते. परंतु गोविन्ददास भल्ला तामसी हते, सो अहंकारसों करते..सरीरको कष्ट पावते."

आपको प्राप्त सामर्थ्यसे जो कुछ उत्तमोत्तम सहजतया शक्य हो वह प्रभुको धरना ही चाहिए; आप मलमलका गालीचा अपने लिए इस्तमाल करो और प्रभुके लिए खादीका इस्तमाल करो तो प्रभुका अनादर होगा. मगर उसका मतलब ऐसा नहीं कि प्रभुको हीरोंका हार धरनेके लिए आप घरबार बेच डालो, उधार लो, चोरी करो, गामसे भीख मांगो. सेवा आजीवन पीढी दर पीढी करनी है.

"सो वह क्षत्रानीको द्रव्य सब निवरि गयो, अकिंचन हती. सो सेवासों पहोंचिके सूत कांतती. तामें सेवा करि निर्वाह करती. . . तब श्रीठाकुरजी कहें— मा, उधारो करज करि पकवान क्यों कियो? मोकों तो चुपरी रोटी बहोत भावत हैं. करज माथे चढ़ि जाय तो दियो न जाय. जब वह मांगे तब क्लेश होय सो न करिये. आजु पाछें उधारो मति करियो. मोकों रोटी रुचत हैं, तातें रोटी घीसों चुपरिकें धरि राखियो. तब वह बाई वैसेही करती. सूतके पैसा बढ़ते तामें पकवान करती. जो पैसा न होय तो रोटी चुपरिके धरती."

उसके अलावा हम सुखी रहकर भगवत्सेवा कर सके एतदर्थ श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि अपने घर-परिवार तथा अपना चित्त; दूसरे शब्दोमें अपना बाह्य और आंतर, अव्याकुल होने चाहिए.

घरमें जहाँ श्रीठाकुरजीका निजमंदिर हो वह स्थान सुशोभित होना चाहिए. उसे सुशोभित करनेके बाद ही प्रेमपूर्वक श्रीठाकुरजीके शृंगार वस्त्र और आभरणोंसे करने चाहिए.

जमाना श्री-इन-वन या टु-इन-वनका है. लोगोंको हर चीजके दो-तीन तरीकेसे इस्तेमाल करनेकी चाहत रहती है. दूसरा उपयोग न हो तो लोग अपने फलद्रूप दिमागसे ढूंढ निकालते हैं; ॲम्ब्युलन्सको भी संचारबंदीमें यातायातके लिए इस्तेमाल करते हैं. चित्त किन्तु जमानेके साथ नहीं चलता. चित्तका तो अपना अनोखा अंदाज है. वह देशकालकी सीमाएँ नहीं मानता. बच्चा भारतका हो या अमेरिकाका, उड़ती हुई चीजोंके लिए उसे आकर्षण होता ही है. मानवको कालिदासके जमानेमें भी फूल पसंद थे और आज भी पसंद हैं. प्रेमी सदियों पहले भी समाजमें बदनामी होने पर भी प्रेम करते थे और आज भी बदनाम होने पर भी प्रेम करनेवाले हैं ही. इसी लिए चित्तके बारेमें सदियों पहले दिए गए उपदेश आज भी उतने ही प्रस्तुत हैं. प्रवाह भले ही ऐसा हो कि घरमें ही ऑफिस या कारखाना या दुकान या क्लास चलते हो, चित्त उन सबको स्वीकार नहीं सकता. चित्त उसे व्याकुल करे वैसी परिस्थितिमें व्याकुल होगा ही. वह अपने

बसमें नहीं है. बेहतर यही है कि चित्तके बसमें आप रहो. बुद्धिसे सच्ची दिशाका निश्चय करके चित्त उस दिशामें जाए वैसी अनुकूल परिस्थिति खडी करो. चित्त भगवत्सेवामें लगे उस हेतुसे सेवास्थलको सुशोभित करो, प्रभुमें लगे एतदर्थ प्रभुके शृंगार करो. उसमें भी फिर सांगोपांग सुशोभनका-परफैक्शनका आग्रह रखकर टेन्शन-तनाव पैदा न करो, उद्वेग न करो; प्रेमसे शृंगार करो. घरमें वह घर लगे वैसा वातावरण रखो, सेवास्थल सेवाका स्थल लगे वैसा रखो. चित्त अपने आप वहाँ लगेगा और स्वयं प्रसन्न होकर आपको और प्रभुको दोनोंको प्रसन्न करेगा.

परिवारकी अव्याकुलता सिद्ध हो उसके लिए श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि स्त्रीपुत्रादि सेवामें अनुकूल हो, सेवा करने उत्साही हो तो उन्हें भी सेवामें सहयोगी बनाने. उदासीन हो तो स्वयं अकेलेको सेवा करनी. मगर यदि प्रतिकूल हो, सेवामें विघ्न करते हो तो उनका त्याग करना. नवरत्नमें समझाया है कि ऐसी चिंता न करनी कि मैंने ब्रह्मसंबंध लेते वख्त स्त्रीपुत्रादिका भी निवेदन किया है तो उनका सेवामें विनियोग क्यों नहीं होता. प्रभुको जो जैसा पसन्द आया वैसा ही सही. और यदि अपनेसे वे ज्यादा सेवापरायण हो जाएं तो भी चिंता न करनी!

"..पाछें जायके पुरुषोत्तमदासकी मातानें पुरुषोत्तमदासकी स्त्रीकी मातासों कह्यो जो तेरी बेटी और मेरो बेटा दोऊ माला पहिरी हैं. दोऊ वैरागी भये, अब कहा करनो? तब उननें कही— चलो इनकी माला उतराउ, नाहीं तो दोऊ मरेंगे. सो दोऊ आयके स्त्री-पुरुषसों कहें— याहि छिन माला दोऊ उतारो नाहीं तो दोऊनकी हत्या लेऊगे. तब पुरुषोत्तमदासने दस-बीस क्षत्री सगेसंबंधी बुलायकें सबके आगें मातासों कही जो यह माला हमारे सिरके साटे हैं. माथो जाय तो चिंता नाहीं परंतु माला तो न छोडेंगे. तातें तुम्हारो मालासों कहा काम है? तुम्हारो मन होय तो हमारे भेले रहो, चहिये सो लेहु. और कहो तो तुमकों न्यारो घर करिकें देय, मनुष्य चाकर रहेगो. जो तुमकों चहिये सो लेहु. हमसों बनेगी सो तुम्हारी टहल करेंगे. चाहो तुम याहि घरमें रहो, हम न्यारो घर करिके रहें. तुम कहो तेसें करें. क्लेश मति करो. परन्तु हम माला सर्वथा न छोडेंगे. और तुम्हारे हाथको छुयो खानपान न करेंगे. तुम माला पहिरो, वैष्णव होउ तब तुम्हारे हाथको पानी काम आवें..परंतु दोउ न माने. सो रात्रिकों पुरुषोत्तमदास स्त्री-पुरुष सोय गये तब दोऊकी माता घरमें कूप हतो तामें गिरि परी, सो देह छूटि गई..तब ज्ञातिके सगरे कहन लागें जो तुम स्त्री-पुरुषकों हत्या लागी तातें गंगाजी न्हाय आवो तब ज्ञातिमें

लेय..तब दोउ जनें उहांतें चले. . . दंडवत् करी सब बात कही— महाराज, आपु कहे सोई भयो. दोऊकी माता मरी, अब क्लेश मिट्यो. अब भगवत्सेवा पधराय दीजें..तब श्रीआचार्यजी पंचामृत स्नान कराय पुरुषोत्तमदासके माथे पधराये. कछुक दिन अडेलमें रहि सेवाकी रीति सब सीखिकें पाछें बिदा होय आगरेमें आये. सगरी ज्ञातिकी रसोई ब्राह्मण भोजन कराई लौकिक अपवाद हू मिटाय दोऊ स्त्री-पुरुष भगवद्सेवा करन लागें."

अपना अंतर अव्याकुल रहे उसके लिए श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि एक तो हमें वाणी या क्रिया द्वारा दुःख देनेवाले हमारे हितैषी हैं या तो प्रभु ही उनके निमित्तसे अपनी बहिर्मुखता छुड़ाते हैं, उनका संग छुड़ाते हैं —ऐसा जानकर वे दुःख सहने. दूसरा वैराग्य और परितोष कभी न छोड़ने.

अपना भला हो उसे भगवत्कृपा माननी सरल है मगर प्रथम दृष्टिसे बुरा लगता हो उसे भी भगवत्कृपा मानना कठिन है. उसके लिए हर एक बातमें गुणग्रहण करनेकी दृष्टि आवश्यक है. जगतमात्रको भगवद्रूप मानने के बाद उस हकीकतको पचानेके लिए जिगर चाहिए.

"एकवार श्रीगोकुलेशने पंचोलीजीए विनंती करी के राज, आप ईश्वर छो, तो आ भगवदीयोनी निंदा करनाराना मों(मुँह) बंध करी दो तो केवुं सारुं! आ सांभली(सुनकर) कृपासागर बोल्या के तमारा शरीरनो मल साफ करनारां स्थल तमे बंध करी दो; पछी शुं थाय छे ते जुओ एटले मने कहेजो. आ सांभली पंचोलीजीए कह्युं– राज, एम करवाथी तो मांदा(बीमार) पड़ी मरी जवाय. एटले श्रीगोकुलेश बोल्या के त्यारे एवा निंदको जो मल साफ करवा न मूक्या होय तो भगवदीयो शुद्ध न रहे. माटे प्रभु बहु दयालु छे, तेथी भगवदीयोना दोषरुपी मेल(मैल) साफ करवा एवा दुष्ट निंदकोने प्रभु ज मूके छे. माटे तेवा उपर कदी गुस्से न थवुं. कोमल कपडुं धोवा कोमल चीज जोईए. तेम भगवदीयो कोमल छे माटे तेमनो मेल प्रभु निंदकोनी कोमल जीभ वड़े(जिह्वाद्वारा) धोवरावे छे!"

ऐसी बेमिसाल गुणदृष्टिके कारण पनपते वैराग्य और संतोष भी ज्ञानमार्गीय संन्यासीकेसे नहीं होते, भगवदाश्रय या भगवत्स्नेहकी ओर ले जानेवाले ही होते हैं. और फिर वे प्रकट भी उनमेंके एकके कारण ही होते हैं.

"तब उन ब्राह्मणने कही— हमारे पास मणि है, तुम लेऊगे? तब वैष्णवने कही— मणिमें कहा गुण है? तब उह ब्राह्मणने कही— जितनो द्रव्य चाहिए सो मणिसों मिलै. तब उह विरक्त वैष्णवने कही

जो मैं कहा करूंगो? जगदीश सेर चून देईगो. तातें सेठ पुरुषोत्तमदास गृहस्थ हैं, इनकों बहोत खरच हैं, इनको देउ. . तब सेठ पुरुषोत्तमदासने कही जो हमारे तो मणि नाहीं चाहिए. . तब वैष्णवने सेठजीसों कह्यो— तुम मणि क्यों न लिये? . . तब सेठने कही— तोकों सेर चून देईगी तो मोकों दस सेर हू देईगी. कहा जगदीशके कछु टोटो है? सो ब्राह्मण बावरे! मैं श्रीठाकुरजीको आश्रय छोडि मणिको आश्रय करुं?"

ऐसे वैराग्य और संतोष रखकर सहते वख्त मनमें ऐसा निश्चय करना चाहिए कि यह सब देह हैं तब तक हैं, देह छूटनेपर मैं निश्चित कृतार्थ होनेवाला हूँ ही. ऐसे आत्मविश्वासके साथ सेवा करते हुवे चित्तको व्याकुल न होने देना —ऐसे श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं.

होता क्या है कि सहनशक्ति, वैराग्य और संतोष थोड़े दिन तक तो आम आदमी भी टिका सकता है, मगर यदि कृतार्थ होनेका विश्वास न हो तो लंबे अरसेमें उसका व्याकुल चित्त सेवामें तत्परता खंडित करके अन्याश्रयकी ओर उसे ले जाता है, प्रभुको आर्ति दूर करनेकी प्रार्थना करनेकी ओर खींचता हैं; निष्काम सुखी भक्त रहने नहीं देता.

श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि यह आधि-व्याधि-उपाधियाँ तो मरनेपर ही पीछा छोड़ेगी, आप प्रारब्धको नहीं बदल पाओगे. इसलिए जैसे नौकरी करनेवाला आदमी कामका समय खतम होनेकी राह देखते देखते मजबूरन काम किए जाता है वैसे आप आयु पूरी होने की राह देखते देखते दुःख सहन करते जाओ और नौकरी करनेवालेकी तरह विश्वास रखो कि कामपरसे घर जाकर सुखशांति ही मिलनेवाले हैं. आ पडे दुःखोंको भूलकर मिलनेवाले सुखका चिंतन करके चित्तको प्रसन्न रखो तो सेवा नहीं छूट जाएगी.

"पाछें संतदासकी देह बहोत असक्त भई. सो भूमि-शयन किये. तब आगरेके सब वैष्णव आई जुरें. सो संतदाससों कहें जो तुम कहो तो तुमकों रेनुका तीर्थ ले चलें. और कहो तो मथुरा बडो छेत्र है तहां ले चलें. तब संतदास कहें— रेनुका मथुरा मोकों कहा कृतार्थ करेगी? जन्म भरि श्रीआचार्यजीको आश्रय कियो, अब या समय तीर्थको आश्रय मैं कहा करुं? और करुं तो महाबाधक है. . .
भावप्रकाश— . . और देहकी कहा है? भगवदाश्रय सर्वोपरि पदार्थ है. देह कहूं परो – यह जताये."

लौकिक दुःख या आर्तिओंकी बजहसे चित्त व्याकुल हो जाए उसके

अलावा लौकिकमें लग जानेकी बजहसे चित्त आवारा हो जाय और सेवालायक शुद्ध न रहे वह भी संभव है. उसके भी दोनों– बाह्य और आंतर– कारण हो सकते हैं.

यदि निर्वाहके लिए कुछ धंधा-रोजगार करना अनिवार्य ही हो तो धार्मिक तथा नैतिक तौरपर योग्य धंधा अपनाना चाहिए. सेवा पहोंचनेके बाद ही रोजी कमाकर, कमानेके चक्करमें चित्त चक्कर न खाने लगे एतदर्थ, हररोज नियमपूर्वक श्रीभागवतजी आदिका पाठ या अनुसंधान करना आवश्यक है —ऐसे श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं. धुरंधर भक्त तो कमाते वख्त भी अनुसंधान रख सकते हैं पर कमसे कम कामके समयके बाद तो मनजी मुसाफिरको फिर निजदेशकी ओर लौटाना ही चाहिए.

"सो संतदास बहुत संपन्न हुते, लक्ष रुपैयाको व्योपार हतो. सो व्योपारमें द्रव्य सब खोये, कछु चोरननें लियो, कछु राजा दंड लियो. पाछे निष्किंचन भये, परंतु मनमें आनंद भयो जो श्रीआचार्यजी कहें सो भयो. पाछें चोबीस टकाकी पूंजी रही, ताकों ले कौडी सेऊके बजारमें बेचन लागे. सो कौडिनकी ढेरी पैसा पैसाकी न्यारी न्यारी करिकें धरते. आप काहूतें बोलते नाहीं. लोग पैसा धरिकें कोडीकी ढेरी ले जाते. सो अढाई पैसा नित्य कमाते. आप बैठे पोथी देखते. . आधे पैसाकी चबेनी रात्रिको ईनके घर वैष्णवमंडली होती सो कीर्तन-वार्ता भये उपरांत बांटते. या प्रकार निर्वाह करते."

चित्तके गुमराह होनेकी आंतरिक बजह दूर करनेके लिए श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि किसीसे कुछ अपेक्षा न रखते हुए मनको बाँध करके उसे प्रभुमें ही लगाकर प्रभुपर दृढ विश्वास रखकर जिस प्रकारसे देहनिर्वाह हो जाए और संसारकी गाड़ी चलती रहे उस प्रकारसे लौकिक उपायोंसे चलाते रहनी. मन, वाणी और क्रिया व्यर्थ विषयोमें न लगने देने.

"सो प्रथम पद्मनाभदास व्यासासन बैठते. सो कन्नौजमें आप अपने घर कथा कहते, ऊंचे आसन बैठते. काहूके घर जानो न परतो; वृत्ति घर बैठे चली आवती. . . तब आचार्यजीने निबन्धको श्लोक कह्यो. . . पद्मनाभदासजीने अंजुली भरिके संकल्प कियो जो कथा कहिके वृत्ति न करुंगो. . . तब श्रीआचार्यजी कहें जो श्रीभागवत वृत्यर्थ न कहनो; और तो तुम्हारी वृत्ति है, तुम ब्राह्मन हो तातें और महाभारत इत्यादिक तो कहनो. तब पद्मनाभदासने कह्यो जो महाराज, अब तो संकल्प कियो तातें कछु न कहनों. तब श्रीआचार्यजीने कही जो तुम तो गृहस्थ हो, कौन भांति निर्वाह करोगे? तब पद्मनाभदासने श्रीआचार्यजीसों कह्यो जो श्रीभागवत वृत्यर्थ न कहूंगो.

और जिजमानके घर वृत्ति कर लाउंगो तातें निर्वाह करुंगो. पाछें जिजमानके घर वृत्यर्थ गये. तिननें आदर बहुत कियो. तब पद्मनाभदासके मनमें ग्लानि आई, जो पहले तो कबहू भिक्षा करी नाहीं. अब वैष्णव भये पाछे भिक्षा मांगन निकस्यो सो उचित नाहीं. पहले तो उपवीत गरेमें हतो ताको तो उचित है जो भिक्षावृत्ति करें परि अब तो गरेमें माला पहरी, ताकों तो यह भिक्षावृत्ति उचित नाहीं. तब फेरि संकल्प कियो जो भिक्षावृत्ति न करुंगो. तब फेरि श्रीआचार्यजीने पूछी जो अब निर्वाह कैसे करोगे? तब पद्मनाभदासने कही जो वैश्यवृत्ति कर निर्वाह करुंगो. पाछे कोड़ी बेचते, लकड़ी लै आवते, परि और बात न विचारी. देहादिपर्यंत सेवा कीनी. ऐसे टेकी.''

मनरूपी धागेको सेवारूपी सूईके छेदमें पिरोनेके लिए उसे स्थिर करना आवश्यक है. उसके लिए सेवासे अन्य विषय और उन विषयोंकी अपेक्षा छोड़नी चाहिए. मनकी चंचलता छुड़ानेके लिए दृढ विश्वास आवश्यक है.

कोई जमानेमें व्यौपार वंशपरंपरागत रहता था. उसमें बाजारमें नामका अधिक महत्व रहता था. आदमीको ऐसा विश्वास रहता था कि जिस धंधेपर मेरे पूर्वजोंने निर्वाह किया उसपर मैं और मेरे वंशज भी निर्वाह कर सकेंगे और करेंगे ही. इसलिए व्यौपार चेनसे होता था. राजाको आजीवन वंशपरंपरागत राजा रहनेका विश्वास रहता होनेसे वह पाँच सालमें गोलमाल करके हो सके उतना घर भर लेनेकी लापरवाहीभरी लघुदृष्टि नहीं रखता था. व्यौपारी कर्जा हो जाए तो वह भी एक एक पैसा अदा कर देता मगर बापदादोंका नाम बिगड़ने न देता और पुत्र सम्मानसे जी सके वह देखता. खुदके वचनपर कायम रहता. ग्राहकोंको आदर देता.

आज वह विश्वास गुम हो गया है. गामके पैसे लेकर दुकान समेटकर विदेश या रफुचक्कर होकर लोगोंको या बेंकोंको डुबोनेवालोंकी कमी नहीं है. ऐसा करनेवालोंकी प्रशंसा और होती है. समूचे समाजकी यह हालत होनेपर सबको व्यौपारका टेन्शन लगा रहता है. हरकोई आनेवाले कलके भयके साए तले जीता है. सरेआम लूट चलाकर मुनाफा जेबमें करके भी शांति नहीं मिलती. प्रतिभासंपन्न विद्यार्थी और खिलाड़ी और अभिनेता भी भविष्यके अंधेरेको देखकर उछल पड़ते हैं. इस तनाव तले मन चंचल हो जाता है, भले-बुरेका विवेक भूल जाता है, क्षुब्ध या मूढ हो जाता है. आधुनिकताका यह सबसे बड़ा अभिशाप है.

आजकल क्रिकेटमें वनडे मेचोंके चरचे हैं. उसमें हर वक्त रनका तनाव रहता है. बल्लेबाज रन बनानेके तनावमें होते हैं तो गेंदबाज और क्षेत्ररक्षक रन न बनने देनेके. रन किस तरहसे बने वह महत्वपूर्ण नहीं

है, किस तरहसे बनते रुके वह महत्वपूर्ण नहीं है; बस बनने चाहिए और बनते रुकने चाहिए. इस प्रकारकी अनेक मेच खेलनेपर खिलाड़ीओंकी एकाग्रता और टेकनिक को अक्षम्य हानि पहुंचती है इस हकीकतका हरएक अनुभवी खिलाड़ी एक आवाजसे स्वीकार करते हैं.

मंदिरोंमें सेवा भी इसी दुर्घटनाकी शिकार बनी है. वैष्णवोंको मनोरथ कर लेनेकी जल्दी होती है तो ट्रस्टीओं-गो. बालकोंको कमा लेने की. किसीको कलका भरोसा नहीं है.

पुष्टिमार्गका जहाज चलेगा तो दृढ विश्वाससे ही. विश्वासकी नींवपर ही सेवाकी ईमारत टिक पाचेगी. चंचल मन तो मरुभूमिकी बालूकी ढेरी जैसा है, कभी इधर तो कभी उधर.

श्रीआचार्यचरण लौकिक आजीविकाके उपायोंका त्याग करनेका नहीं कहते हैं मगर उसका आश्रय रखकर व्यौपार फूलेफाले एतदर्थ दौडभाग करनेकी मनोवृत्तिका त्याग करनेका कहते हैं. आपका निर्वाह करनेके लिए भगवानको श्रम न कराओ, आप खुद ही कमाओ; मगर विश्वास एक प्रभुपर दृढ रखो. तनावमुक्त हो जाओगे और चैनसे सेवा कर पाओगे. पक्का किसान एक दुष्कालसे बरसातका भरोसा नहीं छोड़ देता. ''संशयात्मा विनश्यति''.

सेवा करनेमें सुख मिले उसके लिए श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि अक्लिष्ट वस्तुओंका ही प्रभुको भोग धरना चाहिए. लोकमें जिन चीजोंको पसंदकी मानी जाती हो वैसी आम,द्राक्ष आदि भोग धरनी. हमने जिस चीजको अपनी हककी कमाईमेंसे सन्मार्गसे प्राप्त की हो और फिर जो खुद को बहुत भाती हो ऐसी वस्तु भोग धरनी. तथा जिसके लिए 'में प्रभुको भोग धरूंगा' ऐसी लंबे अरसेसे इच्छा हो वैसी प्रिय वस्तु भोग धरनी. ऐसा करनेसे चित्त और प्रभु प्रसन्न होते हैं. इनको छोड़कर — प्राप्तिमें या आरोगनेमें क्लेश पैदा करनेवाली बहुत महेंगी, दुर्लभ या तीखी-कटु-नमकीन खाद्यसामग्री या शोरशराबेसे कीर्तन या चुभे वैसे भारी शृंगार, इत्यादि वस्तुएँ — न धरनी.

''तब वा दलालने कही.. मेरी गांठमें निन्यानवे हजार रुपैया हैं. सो लाख होई तो मैं लखेश्वरी होउं. सो चार आनामें तो निर्वाह करत हूं और आठ आना जमा करुं हूं. यामेंतें कोड़ी खरच होई नाहीं ऐसी सेवा कृपा करि बताईए. तब श्रीगुसांईजी आप कहे जो तू मानसी सेवा करि, तामें तेरो कछू खरच न होयगो.. तब श्रीगुसांईजी वाकों नित्यकी तथा उत्सवकी रीति सब बताय दीनी. सो ताही रीतिसों वह सेवा करन लाग्यो. सो एकाग्र चित्तसों श्रीठाकुरजीको हृदयमें पधरायके भक्तिभावसों सेवा करे. . . पाछें वाने जायके श्रीगुसांईजीसों विनती करिके श्रीठाकुरजी पधरायो.

तब वह सब द्रव्य श्रीठाकुरजीके विनियोगमें आयो.
भावप्रकाश— . . पुष्टिमार्गमें ठाकुर जीवको जैसो स्वभाव होत है ता भांति वाको अंगीकार करत हैं. तातें जा प्रकार बनि आवें ता प्रकार वैष्णवकों भगवद्सेवा करनी. सेवातें विमुख रहनो नाहीं.''

स्पष्ट है कि सेवामें स्पर्धा या दिखावे का स्थान नहीं है. वरना तो, हमारे गुजरातीमें कहावत है कि, नाटा लंबूसे कदम मिलाए, गर न मरे बीमार हो जाए! जिसका चित्त जो धरनेसे सेवामें लगा रहता हो उसे वही धरना चाहिए. न तो नापसंद या कष्टसाध्य वस्तु धरके चित्तको ठगना चाहिए, न ही भाती चीज न धरके प्रभुको ठगना चाहिए. निबंधमें ही अन्यत्र श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि सेवा अल्प या ज्यादा हो वह मुख्य बात नहीं है, मूल बात है अपनी अपनी योग्यतानुसार सेवा करनेकी. तो ही सेवा निरंतर निभेगी.

सेवा नामभरकी ही न करते हुवे सेवासंबंधी वस्त्र धोने, इत्यादि छोटी छोटी सेवा भी भक्तिभावपूर्वक खुद ही करनी चाहिए.

''और दामोदरदास श्रीठाकुरजीको जल आप भरते. सो एक दिन दामोदरदासको ससुर दामोदरदासके घर आईके दामोदरदाससों कहन लागे जो तुम जल भरि लावत हो सो हमकों जातिमें लज्जा आवत है. तातें तुम मति भरो. लोंडी (दासी) पास जल भराओ. . . तब दामोदरदासने दूसरे दिन एक घड़ा तो आप लियो, एक घडा स्त्रीके हाथमें दीनो. तब स्त्री भगवदी सो घड़ी (गागरि) ले ससुरके हाट आगेतें चले, तब दोउ जने वाकी हाटके नीचे होय निकसे. तब जल लैके आए. तब पाछे दामोदरदासको ससुर आयो सो आईके पाईन पर्यो और कह्यो जो मैं चुक्यो जो तुमसों कह्यौ. अबतें तुमही जल भरो, पर स्त्रीजन पास जल मत भरावो. आज पाछें हम कछु न कहेंगे.''

''बहुरि एक दिन कासीके राजाके मनमें आई जो सेठ पुरुषोत्तमदाससों मिलिये. सो राजा गंगापार रहत हतो. तहांतें प्रातःकाल आयो. ता समय सेठजी छोटी परदनी पहरे गोबर संकेलत हते. तब सेठके लोगननें सेठसों कह्यो जो तुमसें मिलनकों राजा आवत हैं. सो आछे वस्त्र पहरिकें गादी पर बैठो. तब सेठ कहे जो आवन दे. राजाको कहा डर है? तब राजा आयो. तब सेठ गोबर भरे हाथ राजाके आगे आये. तब राजा चतुर हतो सो कहे— सेठजी, तुम धन्य हो. या संसारमें मानबड़ाई एक तिहारी छूटी है. तब सेठनें कही— हम गृहस्थ हैं, घरको काम कर्यो चाहिये.''

यह चित्तकी लाक्षणिकता या विचित्रता है कि वह प्रिय वस्तुमें

भी सहसा नहीं लगता. जमानेको भले ही रेडीमेड पसंद हो मगर चित्तको भी वैसा ही पसंद हो यह जरुरी नहीं है. रेडीमेड खरीदे कुर्तेके बजाय कपड़ा खरीदकर अच्छे दरजीको नाँप देकर सिलवाए कुर्ते चित्तको ज्यादा प्रसन्नता देते हैं. महेनतके पसीनेकी कमाईकी रोटी मुफ्तकी मिठाईसे ज्यादा स्वादिष्ट लगती है. दो दिन पहले टिकटकी लाईनमें दो घंटे खड़े रहकर टिकट प्राप्त करके देखी हुई सुंदर फिल्म दो दिन तक चित्तको प्रसन्न रखती है. दो महिने महेनत करके बनाए हुए चित्रमें चित्रकार एकाकार हो जाता है. कविको स्वरचित कविता याद रखनी नहीं पड़ती, सृजनकी प्रक्रियामें ही वह याद रह जाती है. खुदने लड़ी लड़ाईका चित्र एक सैनिकके मानसपट पर बरसों बाद भी अभी ही अंकित हुआ हो ऐसा स्पष्ट रहता है. नौ मास पेटमें गर्भरूपसे रखे शिशुपर माताको सहज ही प्यार आता है, फिर वह अपंग या कुरूप क्यों न हो. मानव जाने-अनजाने उस काममें मशगूल हो जाता है जो वह रुचिपूर्वक करता है, और इच्छा करने पर भी ऐसी मज़ा नहीं लूट पाता जो सहसा आ जाती है और जिसके लिए वह तैयार नहीं होता. और फिर उस काममें तल्लीन होनेसे मिला मज़ा उस कामके प्रति उसमें अनोखा आदर पैदा कर देता है. वह काम उसे अपना लगता है; उस सर्जनकी निंदा-प्रशंसा उसे खुदकी निंदा-प्रशंसा लगती हैं. अपनी रसोईकी प्रशंसा स्त्रीको खुदकी प्रशंसा लगती है और उसके आत्मविश्वासको बढाती है. रेडीमेड वस्तु मिलते या छूटते इतनी उत्कट अनुभूतियाँ नहीं होती.

इसीलिए श्रीआचार्यचरण मामूली लगती सेवा भी अपने आप ही करनेको कहते हैं. तभी सेवामें सुख मिलेगा.

यहाँ पर यह बात समझ लेनी जरुरी है कि भक्ति भावप्रधान है क्रियाप्रधान नहीं इसलिए चित्तका प्राधान्य रहेगा ही, मगर इसका मतलब ऐसा नहीं है कि चित्त न लगे तो सेवा छोड़ देनी या फिर बिना चित्त लगे की जाती सेवा बेकार है.

''एक दिवस कोईए कह्युं के मन विनानुं लीधुं कर्युं कांई दोष नहि. त्यारे श्रीजीअे कह्युं के मन विना विष खाओ जोईए, मरो छो के नहि. अने मन विना घी खाओ छो तो पुष्ट थाओ छो के नहि.''

मूल बात यह है कि आलस्य, कंटाला, ऊब आते हैं, 'बोर' हो जाते हैं.

''एकवार आपश्री बोल्या के एक जणने दमनो (दमाका) व्याधि थयो हतो. तेने तेनी स्त्री खवडावती (खिलाती) हती ते वखते पण ते हांफतो हतो. एटले स्त्रीअे कह्युं— खवरावुं छुं तो हुं ने तमे हांफो

छो शा माटे (क्यों)? आ सांभली पेलो पुरुष बोल्यो के चावे छे (चबाता है) कोण तारो बाप? मतलब कहेवानी के चावतां पण आने भार पडे छे.''

''एकवार एक श्लोक कहीने तेनो भाव कह्यो के जीवने साधन तो एक पण नथी रह्युं; श्रीठाकोरजीए सर्व करी राख्युं छे. त्यारे पंचोलीए पूछ्युं के राज, जीवने कंई ज करवुं रह्युं नथी? त्यारे श्रीमुखे कह्युं के श्रीठाकोरजीनुं कृत्य तो श्रीठाकोरजी करशे, पण जीवना कृत्य जो जीव नहि करे तो कोण जीवनो (जीवका) बाप करशे?''

'बोर' होकर छोड़ देनेसे काम नहीं चलेगा, कर्तव्य तो करने ही रहे.

इसलिए बाह्याभ्यंतर शुद्धिके लिए शास्त्रके जो सामान्य उपदेश हैं उन्हें भी आचरणमें लाने चाहिए. श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि शक्ति अनुसार अग्निहोत्र, इत्यादि स्वधर्मोका आचरण करना चाहिए और विधर्मोका सर्वथा त्याग ही करना चाहिए. और फिर इन्द्रियोंको बसमें रखना चाहिए. इन तीन बातोंका भूलसे भी त्याग न करना; वरना तो चित्त आपको दूसरे रास्ते चढाकर लक्ष्य तक नहीं पहुंचने देगा.

एक फिलोसोफरने कहा है कि पहाड़ परसे गिरते पत्थरमें भी यदि जान हो तो वह ऐसा ही कहेगा कि पतनमें कैसा मज़ा आता है! वस्तुतः परिस्थिति ऐसी है कि हितकी बातें तो नापसंद होती है और अहितकी बातें पसंदकी. व्यौपारीको संग्रहखोरी और कालाबाजार करके कमानेमें आनंद ही आता है. व्यभिचारी पुरुष या स्त्री को व्यभिचार करते वक्त जरा सा भी क्षोभ नहीं होता कि मैं कुछ गलत कर रही हुं. पश्चात्ताप को पश्चात्ताप इसीलिए कहा जाता है कि वह हमेशा बादमें ही होता है; पाप करते वक्त तो मज़ा ही आता है. ऐसा मज़ा कि जो विवेक, लाजशरम, मर्यादा, आनभान सब कुछ भुला देता है. नशेमें किसीको भी कुछ दुःख नहीं होता. चित्त पर बुद्धिकी और दृढ मनोबलकी लगाम न रखें तो वह इन्द्रियोंके बसमें होकर गलत रास्ते पर ले जा सकता है. भजनका नाम लेकर स्वधर्माचरण, विधर्मनिवर्तन और इन्द्रियनिग्रह छोड़ देनेकी गाफिलियत करना घाटेका सौदा है. ऐसी मूर्खता करनेवालोंके चरित्रोंसे इतिहास और पुराण भरे पड़े हैं. यह तीन टिकेंगे तो सेवा टिकेगी. वरना आवारा चित्तको तो प्रभु ही खींचके वापस लौटा सकते हैं.

''तब गोविंदस्वामीने श्रीगुसांईजीसों विनती कीनी जो महाराज, आप तो कपटरूप दिखावत हो. और आपके यहां तो साक्षात् प्रभु बिराजत हैं (और) बाहिर तो वेदोक्त कर्म करत हो. तब श्रीगुसांईजीने गोविंदस्वामीसों

कह्यो जो भक्तिमार्ग है सो तो फूलरूपी है और कर्ममार्ग कांटारूपी है.
भावप्रकाश— सो फूल तो रक्षा बिना फूले न रहे. तातें वेदोक्त कर्ममार्ग है सो भक्तिरूपी फूलनकों कांटेनकी वाड़ है. तातें कर्ममार्गकी वाड़ बिना भक्तिरूपी फूलको जतन न होय, तब जतन बिना फूलहू न रहे.''

यहाँ स्वधर्मोकी सूचिमें परोपकार, देशसेवा, इत्यादि भी आजके परिप्रेक्ष्यमें समझ लेने चाहिए.

ये किन्तु दवाई हैं और दवाईको भोजन नहीं समझना चाहिए. सारीकी सारी जमीन कांटोंकी बाड़से ही भर दो तो फूल कहाँ खिलेंगे? इसलिए श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि इन तीनोंका संग बाधक है. सेवाके विरोधी धर्मादिको तुरंत त्याग देना चाहिए. ऐसा करते समय मनमें इन धर्मादिके क्षुद्र फलका और भजनके दिव्य फलका जमीन-आसमानका अंतर सोचना चाहिए. ऐसा त्याग नहीं करोगे तो चित्त शुद्ध नहीं रहेगा.

''सो एक समय श्रीगुसांईजी कासी पधारे हैं. सो तहां सूर्यग्रहण भयो. तब श्रीगुसांईजी मणिकर्णिकाघाट स्नानकों पधारे. तब रुक्मिनी श्रीमदनमोहनजीकों स्नान कराईकें आपु मणिकर्णिका स्नानकों आई, सो श्रीगुसांईजी पधारे जानिके.. तब श्रीगुसांईजी पूछे— तू कितने दिननमें गंगास्नानकों आई है? तब रुक्मिनीने कही— महाराज, चौबीस बरस पाछें गंगास्नानकों आई हों. यह रुक्मिनीके वचन सुनिके श्रीगुसांईजीको हृदय भरि आयो, जो ऐसी सेवामें मगन है जो गंगास्नानकों अवकाश नाहीं है.''

''सो तब परमानंदस्वामी सगरी रात्रिके श्रमित हते, सो येहू सोये.
भावप्रकाश— सो तहां यह संदेह होय, जो परमानंदस्वामी सगरी रात्रि जागरन करिके चार घडी पिछली रात्रि रही तब सोये. सो सोयेतें जागरनको फल जात रहत है. सो परमानंदस्वामी तो सुज्ञान हैं और चतुर हैं, तासों वे क्यों सोये? तहां कहत है. सो परमानंदस्वामी लीलासंबंधी पुष्टिजीव हैं. सो एक श्रीठाकुरजीकों चाहत हैं और जागरनके फलकों चाहत नाहीं हैं. सो ये परमानंदस्वामी एकादसीके जागरनको मिसमात्र लेकें भगवन्नाम अधिक लियो जाय ताके लिये जागरन करत हते. सो इनकों विधि रीतिसों कछु जागरन करिवेके फलको कारन नाहीं हैं. तासों परमानंददास चार घड़ी रात्रि पिछली रही तब सोये. सो यातें जो जागरनको फल जायगो परंतु भगवन्नाम लियो सो गुन तो कोई कालमें जायगो नाहीं. तासों भगवन्नाम लेयवेके अर्थ चार घड़ी रात्रि पाछिलीकों सोये. सो काहेतें? जो सोवे नाहीं तो द्वादशीके दिन आलस सरीरमें रहे. फेरि द्वादशीकी रात्रिकों डेढ पहर रात्रि तांई कीरतन करने हैं. तासों जागरनको आश्रय छोड़िकें भगवन्नामको

आश्रय करिके सोये."

हम प्रायः अंतःकरणपूर्वक सहमत नहीं होते कि सेवा हमारे लिए सर्वोत्तम कर्तव्य है. सेवाके लिए इतना आदर न होनेसे लाभशंकरभाई कहते हैं वैसे एकाग्र प्रतीक्षाका अभाव हो जाता है. परिणामतया अपनी धार्मिक प्रवृत्ति और जीवन कुचले हुए आलूके भुरते जैसा हो जाता है जिसमें सेवा, परोपकार, देशसेवा, इत्यादिके छोटे छोटे टुकडें रह जाते हैं. दो घंटे ये किया और दो घंटे यह किया. इस दुविधामें दोनों ही बिगड़ेंगे. पांच साल कोमर्सका ही पढते रहोगे तो ग्रेज्युएट हो जाओगे मगर दो दो साल क्रमशः आर्टस्, सायन्स और कोमर्समें निकालोगे तो कुछ हाथमें नहीं आएगा. पर्याप्त समय लेकर तय करो कि आपको कौनसी लाईन लेनी है, मगर एकबार लेनेके बाद उसी लाईनमें आगे बढ़ो. दूसरी प्रवृत्तिओंमें दवाईकी तरह आवश्यक हो उतना ही लगाव रखो. शादीके बाद लफडे छोड़ दो, वरना जीवनसाथीको खोनेकी तनावपूर्ण और नियंत्रणके बाहरकी स्थिति आ जाएगी.

एकबार सच्चे दिलसे तन, मन, परिवार, धन सबको सेवामें लगा दो; फिर दिक्कत नहीं आएगी. श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि जैसे जैसे प्रभु आपके हृदयमें प्रवेश करते जाएंगे वैसे वैसे आपकी भजनमें निष्ठा बढ़ती जाएगी, सेवा आप सर्वथा निभा सकोगे. आपको सेवामें सुख ही सुख अनुभव होगा.

"और पद्मनाभदासके घर बेटी कुमारी हती.. तब एक वैष्णवने कह्यो जो एक वर श्रीआचार्यजीको सेवक है परि सनोढिया ब्राह्मण है. सो पद्मनाभदासकों सेवक सुनत ही लौकिक व्यवहारकी तो सुधि नाहीं आई. वैष्णवने कह्यो जो भलो वैष्णव है, याकों कन्या दीजिए. तब पद्मनाभदासने कह्यो जो भलो. . . तब तुलसांने कह्यो– जो वह तो सनोढिया ब्राह्मण है, हम कन्नौजिया ब्राह्मण हैं. सो ऐसे कैसे होई? तब पद्मनाभदासने कह्यो जो अब तो भई सो भई. . . पाछें पद्मनाभदासने विवाह करि दीनों. जातिके सब झख मारि रहे. . .

भावप्रकाश— जहां तांई दृढ स्नेह नाहीं तहां तांई लौकिक वैदिकको डर है. जब दृढ स्नेह प्रभुसों भयो तब सगरी चिंता मिटी. लौकिक वैदिक बाधाहू न करि सके."

ये एक सहज प्रक्रिया है, कोई बहुत बड़ी अलौकिक बात नहीं. छोटा बच्चा खेलनेमें ऐसा मशगूल हो जाता है कि उसे खाने-पीनेका रात-दिनका पता नहीं रहेता. जर्मन कवि गेटेको कालिदासका शांकुतल पढ़कर इतना आनंद आ गया कि उसे सिरपर रखकर वह नाचा. कंई

वैज्ञानिकोंका जीवनचरित्र पढें तो उसमें मिलता है कि वे रातदिन संशोधनके पीछे लगे रहते. मूल बात यह है कि जिसमें रुचि हो वैसी प्रवृत्तिको सहजतासे लें, उसके सामने गलत लक्ष्य न रखें. कंई गृहिणियाँ और वृध्ध कभी रोजके तीन-चार घंटे भी 'बिगाडकर' संवारके सुंदर छोटा उद्यानसा अपने घरके आसपास बनाते हैं. यह बागबानीमें मिलता आनंद ही लक्ष्य हो तो जीवनभर उसमें ही लगे रहें तो भी ऊबते नहीं, निरंतर नए पौधे लानेकी और उन्हें उगानेकी तमन्ना बनी रहती है. खेलकूद या पढाई को शौखकी तरह लें तो जीवनभर भी उसमें रुचि बनी रहती है, और असहजतासे पैसे-प्रसिद्धि जुटानेके लिए या परीक्षामें पास होनेके लिए उसके पीछे लग जाएं तो जीवनके किसी मोडपर वह काम दिनके १२-१४ घंटे चलता है और किसी मोडपर १२-१४ मिनट भी न चले वैसा हो जाता है. सेवाके सामने धर्मप्रचार या धर्मशिक्षण या वैकुंठप्राप्ति जैसे लक्ष्य मत रखो, सहजतासे उसमें लगे रहो. आनंद मिलेगा ही.

इस ऊँचाईपर एक दूसरी दिशासे सेवापर बाधकोंका हमला होनेकी संभावना रहती है. कामदेवने नारदजीका तपोभंग करनेकी अनेक नाकाम कोशिशें की. अंतमें उनसे हार स्वीकारके उनके शरण गए और उनकी प्रशंसा करके हार पहेनाया कि महादेवने तो मुझ पर क्रोध किया जब कि आप तो उनसे भी महान हो. यह सन्मानपत्रसे नारदजी भोलेपनमें मोहित हो गए और जब भरी सभामें प्रभुने उनका मूँह बंदरसा बना दिया तब प्रभुपर ही क्रोध करके उन्हें श्राप दे बैठे. कामदेव बाजी हारकर भी जीत गए. किसी नाजुक पलमें मन भी अस्वस्थ हो जाता है और सेवाकर्तामें अहंकार आ जाता है, स्वयंको वह दुनियासे ऊंचा समझने लगता है. प्रभुको आदर देते देते वह प्रभु उसका आदर करे ऐसी अपेक्षा रखने लगता है. तो कभी सेवामें प्रवृत्त होनेसे पहले जो मनमें अहंकारके जाले थे वे वैसे ही रहकर या बढ़कर सेवामें विघ्न करते हैं. चींटी हाथीको मार नहीं सकती मगर काट तो सकती ही है. और कोई सावधानी रखनेकी क्षणपर चींटीके काटनेपर हाथी खाईमें भी गिर सकता है.

साधक जैसे ऊंचाई प्राप्त करता जाता है वैसे उसकी जोरोंसे नीचे पड़नेकी संभावनाएँ बढ़ती जाती है. कोई प्रारंभिक अवस्थामें जो बात बाधक न भी हो वह उच्च अवस्थामें उतनी बाधक हो सकती है कि जान पर बन आए. नारदजीके उदाहरणमें यह हमने देखा ही. सेवा करनेकी हमारे भीतर कर्तव्यबुद्धि जगे यह बहुत अच्छी बात है मगर सेवाका अहंकार अंतमें सेवाकी भावनाके लिए ही हानिकर्ता बनता है. जीव समझकर छोड़ दे तो अच्छा ही है वरना व्यर्थ ही प्रभुको परिश्रम लेना पड़ता

है. इसलिए श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि समूचा जगत ब्रह्मात्मक है ऐसी भगवद्बुद्धिसे सबके प्रति आदर रखो, अपने आपमें दीनभाव और जगतके दुनियावी पदार्थोंमें भी अहोभाव रखो. उनहें चाहने मत लगो, मगर आदर तो रखो ही. कहाँ बाइबलकी जगतके प्रति दोषदृष्टि और कहाँ श्रीआचार्यचरणकी भगवद्दृष्टि! जमीन आसमानका अंतर है!

उसके अलावा अहंकार न करना और प्रभुसे आदरकी अपेक्षा न रखनी.

"सो रामदासजी अष्टप्रहर अपरसमें रहते. जलपान बीडा अपरसमें लेते. या प्रकार भगवत्सेवा करते. श्रीठाकुरजीको नेगहू बहोत हतो. द्रव्यहू बहोत हतो. सो कछुक दिनमें द्रव्य थोरोसो आई रह्यो.

भावप्रकाश— ताको अभिप्राय यह जो रंच द्रव्यको अहंकार हतो सो अन्याश्रय श्रीठाकुरजीकों छुडाय दैन्य करानो है..

..तब रामदासजी एक बनियाके इहां उधारे उचापति करन लागे. तब माथे रिन भयो. . . तब श्रीठाकुरजी रामदासको रूप करि उह बनियाको करज सब चुकाई दिये. . . तब (रामदास) घरमें आई बिचारे जो अब घरमें रहनो नाहीं. चाकरी करूंगो. तब घोरा लिये हथियार बांधि चाकरि करन प्रयागमें आये. तब जलपान बीड़ा बिना अपरसमें लेन लागे.

भावप्रकाश— ताको कारन यह जो कछु अपरसको अहंकार हतो, जो औरसों ऐसी अपरस नाहीं बनत, सोउ श्रीठाकुरजी छुड़ाई अहंकार मिटाये. और ये जताये जो ऐसी अपरस कौन कामकी जामें श्रीठाकुरजीकों श्रम करनो परै.

..तब श्रीआचार्यजी कहे— यह धन्य है. श्रीठाकुरजीको श्रम नाहीं करावत है. तातें या समान धीरज काहूकों नाहीं.

भावप्रकाश— ताको कारन यह जो कहा बहोत अपरससों कार्य होत हैं? पुष्टिमार्गीय धर्म बहोत कठिन है. द्रव्य सगरो गयो, रिन माथे भयो, परंतु धीरज नाहीं छूट्यो. सो कहा? जो मन श्रीठाकुरजीमें रह्यो. हृदयके भीतर चिंतारूप कष्ट नाहीं भयो. पाछें श्रीठाकुरजी रिन चुकाये सो मनमें प्रसन्न न भयो. चाकरीको कार्य कियो. अब दीनता याको भई है, मन श्रीठाकुरजीमें है. या आसयतें श्रीआचार्यजी धन्य कहे."

"सो श्रीगोवर्धननाथजीके दरसन करिकै डेरानमें आईके वा राजानें अपनी रानीसों कह्यो जो श्रीगोवर्धननाथजीको दरसन बहुत सुंदर है, सो तू गिरिराज पर जायके श्रीगोवर्धननाथजीके दरसन करि आव. तब रानीने राजासों कह्यो जो जैसे हमारी रीत है तैसे परदानमें दरसन होय तो मैं करुं. . . तब

रानी परदानमें आई और श्रीनाथजीके दरसन करन लागी. तब श्रीनाथजी (भक्तोद्धारक स्वरूपसों) सिंहासनसों उठिके सिंहपौरिके किंवाड खोलि दिये. सो भीड वा रानीके ऊपर परी. सो वाके देहके वस्त्र निकसी गये. तब रानी बहोत लज्जित भई. . . तब राजाने रानीसों कही जो मैं तोसों पहले ही कह्यो हतो जो ये श्रीनाथजी व्रजके ठाकुर हैं, सो इनने काहूको परदा राख्यो नाहीं है. ता समय परमानंददास यह पद गावत हते..कौन यह खेलवेकी बानि..सो यह सुनिके श्रीआचार्यजी परमानंददासकों बरजे जो ऐसे न कहिये. यासों ऐसे कहो जो भलि यह खेलवेकी बानि."

प्रभु सचमुच अहंकार छुड़ाकर जीवकी भली ही करते हैं. जीवबुद्धिसे हमें बुरा लगे, मगर अंतमें उसका अच्छा परिणाम प्रभुने सोच लिया होता है. खुदके दास होनेके आत्मविश्वास और प्रभुके स्वामी होनेके विश्वासके सहारे सेवक जीवनकी छोटी मोटी आपत्तिओंका सरलतासे सामना कर सकता है. न तो सेवाके प्रति आदर छूटता है न ही प्रभुके प्रति. घटना वही की वही हो, मगर उसे भगवल्लीलाके परिप्रेक्ष्यमें देखें और खुदके क्षुद्र कर्मके परिप्रेक्ष्यमें देखें उसमें बहुत बड़ा अंतर आ जाता है. ज्यादा विकृत अहंकार तो स्वयंकी कृतिको लीला मानने जीवको प्रेरित करता है, और उसमें दैववशात् आया हुआ विघ्न खुरापात लगता है! खेर. यह सब विस्तारसे शिक्षापत्रमें है.

यहाँ अब पहली बार श्रीआचार्यचरण ब्रह्मविद्याविशारदताको हमारे सामने लाते हैं. आपश्री आज्ञा करते हैं कि दूसरे कोई प्रयोजन और दंभ बिना प्रयत्नपूर्वक आदरसे श्रीभागवतजीका पठन हर एक सेवाकर्ताको करना चाहिए. तो ही दीनता और अहंकाराभाव बने रहेंगे.

ब्रह्मविद्याविशारदताका सरल भाषामें अर्थ यह कि प्रभुके स्वरूप और लीलाको अच्छी तरहसे जानना. प्रभुका स्वरूप यह है कि जगतमें जो कुछ हैं वह प्रभु ही बने हैं. और लीला यह है कि प्रभुने पुष्टि, मर्यादा और प्रवाही जीवोंकी तथा जड पदार्थोंकी सृष्टि रची हैं जिसमें भेद ही भेद हैं. एक खेलके नियम हो वैसे लचीले शास्त्रोंके नियम बनाए हैं जो कदम कदमपर जीवको पालने पड़ते हैं; और एक नटखट बालक जैसे स्वयं हैं जो कदम कदम पर नियमसे उपर चलकर जीवको कृपा करके खेलमें खींच लेते हैं. न तो हमें नियम तोड़ने हैं न ही प्रभु नियमका पालन करेंगे. प्रभुसे अभिन्न होकर भी अंतमें तो हम खेलनेके उपकरण या ज्यादासे ज्यादा खिलाड़ी ही हैं. यह दोनों बातका जीवनमें समन्वय कैसे करना वह श्रीभागवतजीके नियमित अवगाहनसे समझा जा सकता है.

और उससे भी ज्यादा महत्वका तो यह कि हम स्वरूप और लीला दोनोंका आनंद ले सके ऐसे सक्षम हो सकते हैं. प्रभुका तो स्वरूप ऐसा है कि लीलाएँ भूल जाएँ और लीलाएँ ऐसी हैं कि स्वरूपको भूल जाएँ! अर्जुन विराटस्वरूप देखकर काँप गया और श्रीयशोदाजी मृत्तिकाभक्षण एवं माखनचोरीकी लीला देख-सुनकर प्रभुपर कोपायमान हो गई! श्रीआचार्यचरण दोनोंपर भार देते हैं, जीवनभर सेवा निभ सके इस लिए. अतएव आपने श्रीभागवतजी पर श्रीसुबोधिनीजी, भागवतार्थनिबन्ध, पुरुषोत्तमसहस्रनाम, त्रिविधनामावली तथा श्रीभागवतानुक्रमणिका जैसे एक से एक विलक्षण ग्रंथोंकी रचना की है. और फिर सामान्यजनके लिए उसके ही अनुसंधानमें उपदेशकी शैलीमें षोडशग्रंथकी रचना की है. जो वह भी न समझ सकें उन्हें आपने सतत अष्टाक्षरका रटन शरणभावनापूर्वक निर्भय और निस्पृह होकर करनेकी छूट दी है.

उसके अलावा श्रीआचार्यचरण माला-तिलक धारण करनेकी और एकादशी तथा जयंतीव्रत करनेकी आदि वैष्णवधर्मकी आज्ञाओंका पालन करनेपर भार देते हैं. इनमें श्रीगोकुलनाथजी या सूरदासजी या दयारामभाई या नरसिंह महेताने भी वर्णन किए हुए वैष्णवमात्रके सामान्य लक्षण भी गिन लेने चाहिए. उसके द्वारा सेवालायक शुद्धि संपादित होती हैं.

ऐसे शुद्ध, सुखी और ब्रह्मविद्याविशारद होकर आनंदपूर्वक कोई अनुयायी जीवनभर भगवत्सेवा करता रहे तो श्रीआचार्यचरण उसकी प्रशंसा करते हैं कि ब्रह्मज्ञानीको तो केवल खुदकी आत्मामें ही ब्रह्मानंदकी अनुभूति होती है, जब कि भक्तको तो स्वयंके देह, इन्द्रिय, परिवार, घर, संपत्ति सबमें ब्रह्मानंदका अनुभव होता है.

किंतु उसे ही यह अनुभव होता है जिसपर प्रभुकी कृपा हो; "कृपा विना सिद्धि नव थाय." प्रभुचरण श्रीगुसांईजी आज्ञा करते हैं कि जैसे अंधेको सूर्य हो या न हो उससे कुछ फर्क नहीं पड़ता वैसे जिसपर प्रभुकृपा नहीं है, जिसे इस मार्गमें रुचि नहीं है, वह सेवा करे या न करे सब एक सा ही है.

कहाँ तो सेवाका यह आदरणीय स्वरूप और कहाँ आज हमने उसे दिया हुआ घृणास्पद स्वरूप! गंगोत्रीके और कानपुरके गंगाजल जितना फर्क है!

*

४. सेव्यस्वरूप

स्कूल-कोलेजमें गुजराती पढ़नेवाले हर एक विद्यार्थीपर कवि कलापीकी केकारवसी कविताएँ उनकी हृदयस्पर्शिता और संवेदना की वजह से एक अविस्मरणीय मुहर लगा देती है. कविका संवेदनशील हृदय प्रकृतिके छोटे स्पंदनोंका भी प्रतिघोष करता है—

"रे पंछी! तुम सुखसे चुगना, गीत या कोई गाना,
काहे ऐसे मुझसे डरके खेल छोड़े उड़ो हो?
पास-ही जैसी चुग रही ये गाय वैसा ही हूँ मैं,
ना ना को'दि' तुझ शरीरको कोई हानि करूँ मैं."

(अनुवादित).

कवि अपनी इस अनमोल संपत्तिसे पूर्णतया वाकिफ हैं. वे प्रभुसे भी यह निधि लुट न जाय यही मांगते हैं—

"लगे जखम सब सहे, सहूँगा भी अभी मैं कई,
कभी गिने ना, कभी गिनूँ ना, लगे भले ही अभी;
अपार पडेंगे और जिगर हाय! छल्ली हुआ,
कभी कठिन ना बने हृदय ये ही चाहूँ, प्रभु! . .
बहु ही रस है मुझे हृदय है अभी तो, अहो!
ओर! हृदय जो गया रस गया सभी तो तभी;
भले मृदु रही सही जखम खूब चूर हो जाय,
कभी कठिन ना बने हृदय ये ही चाहूँ, प्रभु!"

(अनुवादित).

वस्तुतः यदि जीवनमेंसे संवेदना चली जाए तो सब रस उड़ जाते हैं.

"एक बच्चेका खजाना आप देखो तो उसमेंसे कीतनी सारी चीजें आपको मिलती हैं! बच्चेकी संपत्तिमें आपको बसकी टिकटें भी मिलेगी, पेनके टुकडें भी मिलेंगे, कौडियाँ भी मिलेंगी, कागजके छोटे टुकडें भी मिलेंगे और पतंगका उलझी हुई डोर भी मिलेगी. . . दुनियाकी नजरमें कंकरका कोई अर्थ नहीं हैं, मगर वह कंकर बच्चेके पास जाते हैं तब पचेटा बन जाते हैं. खाली माचीसमें कुछ भी नहीं होता फिर भी बच्चेके हाथमें पहुँचते ही वह टेलिफोन बन जाता है. . . इस सृष्टिमें बच्चा ही ऐसा है कि जो निरर्थकताको आनंदमें रूपांतरित कर सकता है. खाली बक्सेमें बच्चेकी तन्मयता (इन्वोल्वमेन्ट) इतनी सारी होती है कि वह भरी हुई माचीस लगती है."

(—श्रीअनिल जोशी लिखित 'पवननी व्यासपीठ'मेंसे साभार अनुवादित).

भक्तकी भक्तिमें तन्मयता भी ऐसी ही होती है कि उसका धरा हुआ जल प्रभुको यमुनाजल लगता है और छोले छप्पनभोगसे भी अधिक. भक्तकी भावमयी संवेदना दुनियावी वस्तुओंको भी ऐसी दिव्य बना देती है कि वैकुंठनायक लक्ष्मीपति वाकूपति गरुडासन कौस्तुभधारी प्रभु भी उसके प्रति आकर्पित हो जाते हैं, उसका उपभोग करनेके लिए दौड़े आते हैं. शबरीके जूठे बेरोंकी मज़ा ही कुछ और है!

कुछ मूर्ख लोग भक्तिको खुदाकी खुशामद कहते हैं, मगर वैसा नहीं है. खुशामद और भक्ति में यह संवेदना और उससे आती तन्मयता का तात्त्विक भेद है. भक्त प्रभुको गाली देता है तो वह भी संवेदनाभरे दिलसे गाली देता है; और चमचा प्रशंसा भी करे तो वह जबानकी तरह लूली ही होती है. अपनी चरणरज प्रभुको देनेसे खुदको नरकवास हो तो वह भी व्रजभक्तोंको सह्य है मगर प्रभुके पेटमें पीड़ा होती हो वह नहीं सही जाती; ऐसी अद्‌भुत संवेदना!

पुष्टिमार्गीको भगवत्सेवा कैसे करनी उसका एक शब्दमें कोई जवाब हो तो वह है संवेदनापूर्वक. अपने यहाँकी सेवाप्रणालिकाको समझनेकी एकमात्र चाबी है संवेदना. इस उत्सवके दिन यह शृंगार क्यों आते हैं, यह सामग्री क्यों धरी जाती है, यही वस्त्र क्यों, इसी भावका कीर्तन क्यों गाया जाता है, यह साज क्यों धरे जाते हैं, पहले यह करना या वह, यह आगे धरना या वह, यह जल्दी क्यों करना और यह देरसे क्यों करना... सिर्फ भावमयी संवेदनासे सोचो, समझमें आ जाएगा.

एक संवेदनशील माता थी. उसके पुत्रको कोई जन्मजात ऐसी तकलीफ थी कि जिसकी वजहसे वह मिठाईयां नहीं खा पाता था. उसके दुःखकी संवेदनाकी वजहसे माताने भी मिठाईयां खानी छोड़ दी. ऐसी माता यदि पुष्टिमार्गमें आकर घरमें सेवा पधराए तो उसे उतना ही समझाना पड़े कि श्रीठाकुरजीको तेरे पुत्रकी तरह पालना. वह अपने आप समझ जाएगी कि ठाकुरजीको अरोगाए बिना कुछ लिया नहीं जा सकता, ठाकुरजी उत्तम वस्तुके भोक्ता हैं, ठाकुरजीकी सेवामें ही जीवनकी सार्थकता है, ठाकुरजीसे प्यारा कोई हो नहीं सकता, ठाकुरजीको परिश्रम हो सकता है, ठाकुरजीको बुरी नजर न लगे उसके लिए दर्शन न कराने, ठाकुरजीकी आरती करनी, ठाकुरजीकी प्रसन्नता ही सेवाका फल है, ठाकुरजीकी छोटी-मोटी सेवा अपनेआप ही करनी चाहिए, अपनी दिनचर्या सेवाका समय निभाकर उसके अनुकूल घड़नी चाहिए, श्रीठाकुरजीको ऋतु अनुसार वस्त्र-शृंगार-सामग्री-कीर्तनादि करने . . .

और सच पूछो तो सेवा कैसे छोड़नी उसका भी वही जवाब है कि संवेदनापूर्वक. श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि शरीरमें ज्यादा अशक्ति

आ गई हो या आपके सेवा करनेसे परिवार या पड़ोसियों को पीड़ा हो या इन्द्रियोंको सेवामें जबरदस्तीसे लगानेपर भी इन्द्रियाँ जवाब दे जाती हो या फिर आपसे सेवाकी कोई अपरस या नेग जैसी बातका ज्यादा हठाग्रह हो जाए तो सेवा छोड़ देनी चाहिए. यहाँ सेवा छोड़ देनेपर जीवका भला होगा या बुरा वह गौण बात है, सुकोमल सुकुमार प्रभुको परिश्रम होगा उसकी श्रीआचार्यचरणको अधिक चिन्ता है. प्रभुके प्रतिकी संवेदना श्रीआचार्यचरणको ऐसी आज्ञा देनेके लिए विवश करती है कि या तो इन बाधाओंको दूर करो या सेवा छोड़ दो; दोनों साथ नहीं चल सकते.

स्नेहकी भक्तिमार्गमें यही महत्ता है. कि वह प्रभुके प्रति संवेदनशीलता प्रकट करके आदरको सुदृढ़ बना देता है. स्नेहीजनके दिए हुवे आदरके बोझसे प्रभु विवश होकर झुक जाते हैं; भारसे उनका दम घुंट नहीं जाता, कुचला नहीं जाता. स्नेहकी कोई उत्कट अवस्थामें भक्त प्रभुके प्रति असंवेदनशील होकर मानभाव धारण करें या रूठ जाए उसकी भक्तिमार्गमें इसी लिए प्रशंसा नहीं की जाती. ऐसा दीनताभरा स्नेह प्रशंसनीय है जो प्रभुके लिए संवेदना कायम रखे. माहात्म्यज्ञान भी उतना ही कामका कि जो संवेदना जगाए और बनाए रखे. वैराग्य तब ही कारगर होता है जब विषयोंसे ध्यान हटाकर संवेदनाको प्रभुमें एकाग्र करे. तापक्लेशकी इसीलिए महत्ता है कि वे प्रभुके लिए संवेदनाको बलवत्तर बनाते हैं.

आज पता नहीं चलता कि मानवकी संवेदना कहाँ चली गई है. रास्तेपर हुई दुर्घटनामें घायल यात्री या राहदारियोंकी चीखें बहेरे कानोंसे टकराती है; वे तड़पते रहते हैं और उन्हें सहायता देनेके बजाए उनका सामान और अलंकार लोग उठा जाते हैं. मर्द-औरतोंको जिंदा जला डालने, छुरी मार देनी, बलात्कार, इत्यादि रोजमर्राकी घटनाएँ हैं आजकल. चारों और घटिया दर्जेके कलह-कंकास देखनेको मिलते हैं; चाहे फिर वह विधानसभा हो या संस्थाओंके चुनाव या फिर को-ओपरेटिव सोसायटी या संयुक्त/विभक्त परिवार.

"आप देखो कि कच्चे आमका हरा छिलका आमसे अलग नहीं है मगर आममय है. आप नाखूनसे कच्चे आमका छिलका उतार नहीं सकते. . . . मगर आम पककर मैच्योर बन जाए तब पीला छिलका थोडा खरोंचनेसे तुरंत निकल जाता है और आमकी गुटलीको उतरते छिलके या घुली जाती आमका जरासा भी रोमांच नहीं होता.

मुझे लगता है कि परिपक्वता या मैच्योरिटी मानवकी संवेदनशीलताको पका देती है, थका देती है; उससे छुअनकी क्षमता हर लेती है. मानव जैसे परिपक्व (मैच्योर) होता है वैसे उसकी चमड़ी निश्चेतन – संवेदनारहितसी –

बनती जाती है, वह मोटी या पकी या मरी चमड़ीका होता जाता है. कच्चा इन्सान सबसे ज्यादा संवेदनशील और जिन्दा चमड़ीका इन्सान होता है. इन्सानमें रहा हुआ कच्चापन गलत मूल्योंके साथ कभी समाधान नहीं करता. कचाईका स्वभाव ही किसीके दांत खट्टे करनेका है. परिपक्वता हरबार समाधान कर लेती है. वह 'मधुरेण समापयेत्' जैसी नीति अपनाती है. वह देखी-अनदेखी कर सकती है. मुझे लगता है कि परिपक्वता (मॅच्योरिटी) वह संसारके साथ जख मारकर किए गए समाधानका ही एक सलौना नाम है. . .

यहाँ ऐसा लगता है कि कच्चे आमको पकानेके लिए जैसे घासकी जरुरत होती है वैसे इन्सानको पकानेके लिए संसारका घास अनिवार्य है. इन्सान संसारके घासमें पड़ा पड़ा पक जाता है. इन्सान सड़ जाए उतनी हद तक पक्व जाता है तब उसके अमृतमहोत्सव मनाए जाते हैं, षष्टीपूर्ति मनाई जाती है. भक्तकवि नरसिंह महेता और मीरां तो उनके युगके सबसे ज्यादा अपरिपक्व (इम्मॅच्योर) जीवंत इन्सान थे. इसीलिए उनके शब्द इतने बरसोंके बाद भी मॅच्योर लगते हैं. मुझे लगता है कि परिपक्वता आत्माकी डायाबिटीस है. परिपक्वता राजरोग है. . . मानवपर मॅच्योरिटीका इतना बड़ा आक्रमण है कि मानव उससे बचनेके लिए शराब पीने लगा है. . . आज इन्सान परिपक्वतासे थक गया है. सभ्यताके आतंकवादने मनुष्यकी आत्माको शो-केसमें रख दिया है."

(—'पवननी व्यासपीठ'में से साभार अनुवादित).

"एक ओर विज्ञानका आंचल ओढ़कर चिकित्साशास्त्र मानवजातपर हिंसा करता है और दूसरी ओर मानवकेन्द्रित विचारसरणी चिकित्साशास्त्रज्ञोंको प्राणीजगतपर हिंसा आचरनेकी प्रेरणा देती है. चिकित्साके अभ्यासक्रमकी शुरुआतमें ही विद्यार्थी मेंढ़क, तिलचटा या केकडे जैसे निर्दोष जीवंत प्राणीको चीर-फाड़कर उसकी शरीररचना सिखता है. आगे जा कर कुत्ते और बिल्लियों पर दवाईकी क्या असर होती है उसका अभ्यास करते हैं. ऐसे प्रयोग पूरे होते ही मरे हुए कुत्ते बिल्ली कचराकी टोकरीमें निसंकोच फेंक दिए जाते हैं. मानसशास्त्र जैसे विषयोंका अभ्यास करते समय बंदरको पींजरे में पूरकर उसपर तरह तरहकी प्रक्रिया की जाती हैं. ऐसी प्रक्रियाओंसे बंदरका वर्ताव किस तरह बदल जाता है उसका निष्ठुरतासे अभ्यास करते हैं. आयुर्विज्ञानके संमेलनोंमें ऐसे निर्दोष प्राणिओंकी जानकी कीमतपर तैयार किए लेख पढ़े जाते हैं और चर्चा की जाती है. . . मानवजातका भला करनेके प्रयत्नोंसे मानवजातको हकीकतमें कितना फायदा होता होगा उसका निर्णय कठिन है, मगर प्राणीजगतको जरुर

हानि पहोंचती है यह एक उजागर हकीकत है. आयुर्विज्ञानके संशोधक तड़पते प्राणिओंकी चीखें सुन नहीं सकते. इस तरह मूक प्राणिओंकी यातनाकी चीखकी ओर बधिर बनते डाक्टर मानवरोगीकी यातनाओंकी ओर भी कान धर नहीं सकते. वे सब संवेदना खो देते हैं. . . ऐसे (ईन्टेन्सीव केर) युनिट अमेरिकामें प्रेशर कूकर कहे जाते हैं जहाँ ईलेक्ट्रोनिक साधनोंके बीच ठंडे वातावरणमें मरीझको सगेसंबंधीओंकी ऊष्मासे वंचित एक यंत्रकी तरह रखा जाता है."

(—डो.मनु कोठारी और डो.लोपा महेता लिखित 'तबीबीक्षेत्रे हिंसा'मेंसे साभार अनुवादित).

हकीकतमें संवेदना मर नहीं जाती मगर इन्सान अपनी बुद्धि या अज्ञानसे उसे चालाकी या मूर्खता पूर्वक दूसरे विषयोमें लगा देते हैं.

श्रीअनिल जोशी लिखते हैं — "आमके पेड़पर झूलते कच्चे आमके पास हरा तोता धीरेसे आकर बेठ जाता है. डाल जरा सी हिलती है. हरे रंगका छाक ऐसा कि देखनेवालेके चश्मेके नंबर कम हो जाए, आंख साफ हो जाए. मगर कोई व्यौपारी आमके लचीले पेड़के पास जाए तो उसे पेड़में अलग अलग मुरब्बा आदि अचार दिखते हैं. कोई बच्चा आमके पेड़के पास जाए तो वह झूलते आम गिरानेके लिए हाथमें पत्थर उठाता है. कोई धूपसे परेशान मुसाफिर आमके पेड़के पास जाए तो उसे आम्रवृक्षमें छांव दिखती है, ठंड दिखती है."

स्वीट्झरलेन्डमें एक वृद्धोंकी अस्पतालमें काम करनेवाली एक नर्सको दोषित पाई गई. उसने जान-बूझकर इलाजमें ऐसी अपराधपूर्ण लापरवाही की थी कि जिससे २३ वृद्ध स्त्रीपुरुषकी मौत हो गई थी. उसने अपने बचावमें कहा— वैसे भी वे सब मौतके सायेमें ही जीते थे. उनके सगेसंबंधी भी उन्हें यहाँ छोड़कर अपनीअपनी दुनियामें मस्त थे. व्यर्थ ही उनके इलाजके लिए शक्ति, समय और पैसे क्यों नष्ट करने?!

पता ही नहीं चलता कि मरीझोंके लिए अस्पताल है कि अस्पतालके लिए मरीझ.

मुंबईमें सार्वजनिक गणेशोत्सवका बड़े पैमानेपर आयोजन होता है. विविध सार्वजनिक मंडल कदमें एकदूसरेकी स्पर्धा करें वैसी गणपतिकी मूर्तियाँ पधराते हैं. जो ४-७-१० दिन गणपति बिराजें उतने दिन तक बहोत धमाल रहती है. चारों ओर लाईटोंकी रौशनी की जाती है. और फिर वर्तमान परिस्थिति बयान करता एक सेट भी आजकल गणपतिके पासमें होता है. दिनमें १४ घंटे लाउडस्पीकरों पर फिल्मी गाने बजाए जाते हैं और फिर देर रातको फिल्में दिखाई जाती हैं. विसर्जनके जुलूसमें लोग नशेमें धुत्त होकर नाचते हैं. दो मंडलोंकी तुलना इन सब बातोंके आधारपर ही होती हैं— किसने

उत्सव ज्यादा भव्यतासे संपन्न किया, किसने अच्छी फिल्में दिखाई, कहाँ क्या प्रसाद था, कहाँ सजावट अच्छी थी, किसके जुलूसमें भीड ज्यादा थी . . . गणपतिके बजाय इन सब विषयोंकी संवेदना ज्यादा होती है. नवरात्रिकी कथा भी कुछ ऐसी ही है.

पुष्टिमार्गमें भी आज किसी बातका रोना है तो वह यही कि कोई सेव्यस्वरूप श्रीठाकुरजीके प्रति, उनके सुख-असुखके प्रति संवेदनशील नहीं है. कोई सेवाकी संपत्तिके प्रति संवेदनशील है तो कोई सेवामें होते खर्चके प्रति, कोई सेवासे होती आयके बारेमें, कोई अपनी लोकप्रियताके प्रति तो कोई दर्शनार्थिओंकी संख्याके प्रति, कोई दर्शन करने आती सेठानिओंके प्रति तो कोई अबलाओंके प्रति, कोई माजीओंके प्रति तो कोई बहनोंके प्रति, कोई सेठियाओंके प्रति तो कोई अधिकारी-ट्रस्टीओंके प्रति, कोई मुखिया-भीतरियाके प्रति तो कोई मनोरथीओंके प्रति, कोई सामग्रीके बारेमें तो कोई प्रसादके बारेमें, कोई दर्शनके समयपत्रकके लिए तो कोई विविध मनोरथोंकी न्योछावरके लिए, कोई हर वर्षके मनोरथिओंकी सूचिके बोर्डके प्रति तो कोई पित्तल या आरसकी तख्तीके प्रति, कोई अपरसके प्रति तो कोई छूटछाटोंके प्रति, कोई पाककलाके प्रति तो कोई कीर्तनकलाके प्रति, कोई शृंगारके प्रति तो कोई सजावटके प्रति, कोई भीड़के प्रति तो कोई शांतिके प्रति, कोई गोलखके प्रति तो कोई रसीदके प्रति, कोई पहचान और संपर्क बढानेके प्रति तो कोई संगठनके प्रति, कोई अपने क्वाँरे लडके-लडकीओंके नाते-रिश्ते खोजनेके प्रति तो कोई निंदा करके जमे हुवे रिश्तोंको बिगाड़नेके प्रति, कोई आजकी ताजाखबर जाननेके प्रति तो कोई बहुचर्चित विषयोंकी निंदाके प्रति, कोई धर्मप्रचारके प्रति तो कोई धर्मप्रदर्शनके प्रति, कोई विश्वोद्धारके प्रति तो कोई अपनी समृद्धिके प्रति, कोई ६के प्रति तो कोई ५६के प्रति, कोई ७ या ८ के प्रति तो कोई ८४के प्रति, कोई मंदिर पर खुदका वर्चस्व जमानेके बारेमें तो कोई वैष्णवों पर, कोई प.भ. या बापा बनने-कहलानेके बारेमें तो कोई पूर्णपुष्टिपुरुषोत्तम या साक्षात् श्रीवल्लभ बनने-कहलानेके बारेमें, कोई टाईमपास करनेके प्रति तो कोई मौकेका फायदा लेनेके प्रति, कोई बाहर निकाले चप्पलके प्रति तो कोई जेबमें रखे पाकिटके प्रति, . . सभी अपनेअपने विषयोंके प्रति तीव्रतासे संवेदनशील हैं उसका त्रिकालमें इन्कार नहीं हो सकता; मगर कोई ठाकुरजी प्रति संवेदनशील रह गया है ऐसा त्रिकालमें स्वीकारा नहीं जा सकता. श्रीनाथजीको भी लगता होगा कि मुझे भोग धरा हुआ ठौर ज्यादा कठोर है या यह तथाकथित सेवकोंके हृदय.

आज आठ-आठ घंटे भारी शृंगारके साथ ठाकुरजीको अपने ही उच्छिष्ट

भोजनके सामने ठाड़े रखे जाते हैं लोगोंके दर्शनके लिए. तली हुई सामग्रियाँ कढ़ाईमें ही भोग धरी जाती हैं. पचीस सालका तगड़ा जवान भी खाके हजम न कर सके वैसी अतिहलके या अतिभारी स्तरकी सामग्री ठाकुरजीको धरी जाती हैं. डेढ डेढ महिने मनोरथोंकी शृंखला चलती हैं. कितना लिखूं?

यह सब परिपक्वता या अतिपरिचय की वजहसे होती ठाकुरजीकी सरासर अवज्ञा है. यह डेढसयानापन हकीकतमें हमारे भावोंका लौकिक टुच्चापन है जो हमारी श्रीठाकुरजीसे दूरी बढ़ाता है. क्या श्रीआचार्यचरणने श्रीठाकुरजीका स्वरूप बताया और क्या हमने बना दिया?!

संवेदना एकाग्र होकर प्रभुमें न रहे और प्रभुसंबंधी या असंबंधी गौण बातोंमें फैल जाए उसका ही दूसरा नाम लौकिक बढ जाना या बहिर्मुखता है.

"वीसमें वचनामृतमें सात स्वरूप और श्रीनाथजी अन्नकूट भेलो आरोगे ताको प्रसंग है. तहां श्रीगुसांईजीसों श्रीगिरिधरजीने श्रीनाथजीनके मनके अभिप्रायसों विनती कीनी. तब श्रीगुसांईजीने जान्यो जो यामें लौकिक बढी जायगी. परंतु श्रीनाथजीने आज्ञा कीनी जो हमारी ऐसी आज्ञा है. तब सातों स्वरूप श्रीनाथजीके यहां पधराये. तब श्रीगुसांईजीकी बेटीजी और भट्टजी सेवापरायण सो उहांई रहत हते. तिनकुं एक ठाकुरसेवा पधराय दीनी हती. सो बेटीजी अपने घर श्रीठाकुरजीको अन्नकूट भोग धरिके जान्यो जो श्रीजीके यहां सातों स्वरूप पधारे हैं सो बहोत सुख होयगो; चलो दर्शन करिये. सो बेटीजी दर्शनको पधारे. तब श्रीगुसांईजीने देखे. तब पूछी— तू सेवासों पहोंचके आई कहा? तब बेटीजीने कही जो भोग धरिके दर्शन करिवेकों आई हों. तब आप खीजीकें गारी देयके कही जो श्रीठाकुरजीकी सेवा छोडिके यहां आई है सो कहा श्रीठाकुरजी और हैं?"

मैं भी डो.कोठारी और डो.महेता के विधानोंकी तरह विधान कर सकता हूँ कि जनता और स्वकेन्द्रित विचारसरणी पुष्टिमार्गिओंको भगवल्लीलापरिकरपर हिंसाका आचरण करनेकी ही प्रेरणा दे रही है और देगी. समूची मानवजातिका या खुदका भला करनेके प्रयत्नोंसे मानवजातिको या खुदको हकीकतमें कितना फायदा होता होगा उसका निर्णय कठिन है मगर भगवल्लीलापरिकरको जरुरसे हानि पहुँचती है यह एक वास्तविकता है.

हकीकतमें तो किसीको कुछ लौकिक या अलौकिक फायदा नहीं होता. श्रीआचार्यचरणने शिक्षाश्लोकीमें श्रीगोपीनाथजी-श्रीगुसांईजीके निमित्तसे सभी आचार्योंको तथा दामोदरदासजीके निमित्तसे सभी अनुयायिओंको स्पष्ट चेतावनी दी है कि प्रभु लौकिक विषयोंकी तरह आदर-संवेदनाहीन बर्तावका विषय नहीं हैं और

उन्हें वैसे माननेकी भूल मत करना; वरना तो तुम बहिर्मुख हो जाओगे और तुम्हारे देहादि सर्व कालके शिकार बन जाएंगे. सिद्धांतमुक्तावलीमें भी आपश्रीने स्पष्ट निर्देश किया है कि भक्तिके अलावा अन्य प्रयोजनोंसे सेवा करनेवाला अपने दुराशय और दुष्कर्मों की वजहसे अन्यथाभाव अर्थात् बहिर्मुखता प्राप्त करके प्रभुकी निकट रहता होनेकी वजहसे ही नाशका भागी होता है.

पुष्टिमार्गमें स्वसेव्य प्रभुसे पर कुछ भी नहीं होता है, उनसे बढ़कर और कुछ नहीं है. ऐसी सेवाकी ही कीमत है जो स्वसेव्यस्वरूपके प्रति आदर और संवेदना बढ़ाती हो या कमसे कम बनाए रखती हो. आदर न हो तो उसके पैदा होनेका इंतजार करो और उस दिशामें प्रयत्न करो मगर सेवा शुरु कर देनेकी उतावली मत करो. व्यर्थ ही खुद दुःखी होगे और प्रभुको भी दुःखी करोगे. सेवा कर ही रहे हो और ऐसा लगता हो कि जितनी सेवा कर रहे हैं उतने आदर-संवेदना घटते जा रहे हैं, तो अभी ज्यादा देर नहीं हुई है. आत्ममंथन करो, बच पाओगे. दवाईसे मिटता हो तो दवाई करो और ऑपरेशन करना पडे तो वह भी करो, मगर स्वसेव्यप्रभुके प्रति आदर बनाए रखो, संवेदना बनाए रखो. आदर बना रहा और सेवा न निभ पाई फिर भी भक्तिमार्गमें रह सकोगे मगर आदर न निभ पाया तो सेवा निभी फिर भी भक्तिमार्गमें नहीं रह जाओगे. लाभ-हानिके हिसाव या अन्य प्रयोजनों से सेवा मत करो, प्रभुकी अवज्ञा या उपेक्षा मत करो.

ये तो आज ऐसी दुर्गति है वरना अपने पुष्टिमार्गीय वैष्णव सकारण ऐसा गर्व रखते थे कि हम जिस तरहसे भावपूर्वक– आदर और संवेदनापूर्वक– भगवत्सेवा करते हैं उसका अंशमात्र भी मर्यादामार्गीय पूजाप्रणालीमें नहीं है. बैंगनके बड़े टुक प्रभुको भोग धर दिए जानेपर श्रीगुसांईजीको इतना खेद हुआ कि संन्यास लेनेकी प्रबल ईच्छा हो गई; ऐसा गृहस्थाश्रम किस कामका जिसमें प्रभुका सुख न निभ पाए ?!

"सो नारायनदास श्रीगोकुलचंद्रमाजीकी सेवा भलीभांतिसों करते. गायकों घास धोईकें खवावते, जो मति कहूं दूधमें रज आवे; श्रीठाकुरजी अत्यंत सुकुमार हैं! . . . या प्रकार नारायनदास सेवा बहोत करी. पाछें ईनकी देह थकी. तब एक दिन नारायनदाससों श्रीठाकुरजीनें कही— कछु मांगि. तब नारायनदासने श्रीगोकुलचंद्रमाजीसों कह्यो— मैं यह तुमसों मांगत हों, श्रीगुसांईजीके घर पधारिके सेवा कराईयो. तब श्रीगोकुलचंद्रमाजी बहोत प्रसन्न भये, जो तू मेरो सुख मांग्यो, अपुनो सुख कछु न मांग्यो."

"नारायनदास ब्रह्मचारी गायना पेटमां पण रज न जाय एवी सावधानी

राखता. ज्यारे अत्यारे श्रीठाकुरजीना पेटमां रज जाय एनो पण वैष्णवोने वांधो (एतराज) नथी. भाजी त्रण वार धोवी जोईए तेने बदले एकवार पण नथी धोता. धर्म देखाडवानो (दिखावेका) छे, अंतरनो नथी."

आज जाने-अनजानेमें दर्शनकर्ताओंको ठाकोरजीके-शृंगारके-सजावटके-दर्शनके स्वादका चस्का तो लगा, मगर आदर या संवेदना कायम नहीं रह पाए. (अनेक घटिया किसमकी फिल्में देखनेसे स्त्रियोंके प्रति भी कुछ ऐसा ही दृष्टिकोण हो जाता है). इसका फायदा उठाने भगवद्विषयक चित्र या स्टीकरों की बिक्री होती है. कुछ लोग खुदके दुकान-मकानको भगवानके नाम देते हैं और कोई विवाहके निमंत्रण या विज्ञापनोंमें भी ऐसे चित्र या आकृति छपवाते हैं. ऐसे चित्रों या स्टीकरों की तो अवदशा होती ही है मगर उससे प्रभुका भी अनादर होता है. फेलिनी कहते हैं वैसे मौजमजाके फर्निचरपीसमेंसे यह प्रतिमाएँ प्रकट होती हैं. कुर्सीपर बैठे बैठे, यार-दोस्तोंके साथ गपशप करते, दारु पीते, खाते, टेलिफोनपर बातें करते, और कभी कभी प्यार करते करते दर्शक उन्हें देखते हैं. देयर ईज नो रेस्पॅक्ट. ठाकोरजीके दर्शनादि हमारे निरंकुश उपभोगके लिए नहीं हैं, नहीं हैं और नहीं हैं.

फेलिनी पुराने चलचित्रोंके अनादरके लिए घरके टी.वी.के छोटे स्क्रीनकी निंदा नहीं करते मगर ध्यानसे देखो तो वह माहोलकी निंदा करते हैं जिसमें रहकर चलचित्र देखा जाता है. थियेटरमें बड़े स्क्रीन पर चलचित्र देखने जाएँ तव पारिवारिक जंजाल कम ही होती है. और फिर अंधेरा अनायास ही बाह्य और आंतरिक एकांत देता है जो आदरपूर्वक चलचित्र देखनेके लिए अपेक्षित है. बाह्य– टेलिफोन या महेमानों जैसे– विघ्न वहाँ नहीं आते. थियेटरमें जीमें आए वैसे बेठ नहीं सकते, पहन-ओढ नहीं सकते. आदमी सतत ऐसे होशहवासके साथ बरतता है कि वह, पैसे खर्च करके भी, सभ्य लोगोंके बीच बैठकर चलचित्र देख रहा है.

चलचित्रके लिए सार्वजनिक थियेटर निश्चित अच्छा हो सकता है मगर साधनाप्रणालीमें व्यवहार्य नहीं है. साधना जीवनभर हररोज करनी होती है, महिनेमें केवल तीन घंटे नहीं. दूसरेके बनाए हुए चलचित्रका तीसरेके थियेटरमें भाडेसे बैठकर आनंद लिया जा सकता है. मगर साधनामें, यदि कहना ही हो तो, खुदको खुदका चलचित्र बनाना होता है, खुदको ही उसे प्रभुके साथ देखना होता है. थियेटरमें उत्तरदायित्व और स्वातंत्र्य दोनों नगण्य होते हैं जो कि साधनाकी बुनियादी आवश्यकताएँ हैं. साधनामें कभी समाजको बदनाम नहीं किया जा सकता.

इस लिए घरमें ही सेवाके लायक माहोल जतनसे बनाए रखना चाहिए

और सेवा करते समय श्रीठाकुरजी सन्मुख बिराजते हैं ऐसी भावना सतत करनी चाहिए, भयसंगुत सेवा करनी चाहिए.

"वली आपणा घरमां जे भगवद्स्वरूप बिराजे छे तेनी कानि आपणने आवती नथी. केमके श्रीठाकोरजीना मंदिर आगल स्त्री पुरुष बेउ जणा हास्यविनोद करे छे ते वखत जो माणस आवी जाय छे तो तेनी कानिए करीने बोलता चालता रही जाय छे, ने लज्जा पामे छे. ए रीते एटली शरम माणसनी आवे छे तेटली शरम प्रभुनी आवती नथी. त्यारे प्रभुनुं स्वरूप क्यांथी जणाय? माटे ज्यां सुधी भगवद्स्वरूप नथी जाण्युं त्यां सुधी गमे एटला दिवस सेवा करे तो पण सेवा फलरूप थती नथी. माटे प्रथम प्रभुनुं स्वरूप जाणीने पछी सेवा करशो तो सेवा फलरूप छे."

इसीलिए श्रीआचार्यचरणने भक्तिवर्धिनीमें घरमें रहकर कृष्णभजन करके भक्तिके बीजभावको दृढ करनेका जो उपदेश दिया है उसकी व्याख्या करते हुवे व्याख्याकार कहते हैं कि घरमें रहकर = अनुकूल घरमें रहकर. घरको कृष्णभजनके अनुकूल बनाकर कृष्णभजन करोगे तो ही बीजभाव दृढ होगा.

"श्रीमदाचार्यजीकी कृपातें ऐसे हरि अपने गृहमें बिराजत हैं सो जैसे योगिजनके हस्तमें पारद सावधानतासों रहे तो कल्पतरु समान फल देय और सावधान न होय तो हस्तसों निकसी जाय और फलहू नांही देय."

"और जा गाममें माधवभट्ट रहते ता गाममें एक बडो गृहस्थ रहतो. सो वाको एक बेटा हतो सो मरि गयो..सो..उह गृहस्थ..माधवभट्ट पास दोर्यो आयो. दंडौत करिके बहोत विलाप करन लाग्यो..या प्रकार बहोत दुःखी देखिके माधवभट्टकों दया आई. . . तब वह दौरिके घरमें जाई देखें तो बेटा जीयो, बधाई करी. कह्यो— माधवभट्ट बडे भगवदीय हैं जिनके वचन ऐसे हैं जो 'जीयो' कहतमात्र बेटा जीयो. पाछें रात्रिकों माधवभट्ट अपने मनमें विचार कियो जो यह कार्य मैं बहोत अनुचित कियो. संसारमें अनेक दुःखी सुखी लोग हैं. तातें अब या गाममें रहिवेको धर्म नाहीं है. सो अर्धरात्रि समय श्रीठाकुरजीकों संपुटमें पधरायकें चले. . . तातें वैष्णवकों दयाहू विचारिकें करनो. लौकिकमें माहात्म्य प्रगट करेतें गाम छोडे तो धर्म रह्यो, नाहीं तो पाछें बहोत दुःख होतो. तातें लौकिकमें लौकिककी नांई रहे तो धर्म रहे. श्रीठाकुरजीकों दुःख न होई. वैष्णवकों हू दुःख न होई. माधवभट्ट सर्वसामर्थवान हते परंतु तोऊ भाजनो पर्यो. तातें वैष्णवकों विचारिकें काम करनो."

प्रभु प्रति आदर और संवेदना ही पुष्टिजीवकी सच्ची पूँजी हैं. श्रीआचार्यचरण शिक्षाश्लोकीमें आज्ञा करते हैं कि प्रभु प्रतिका भाव ही अपना सर्वस्व है.

भाव है तो हम आलोक और परलोक में स्वस्थ रहे पाएंगे. इसलिए भावपूर्वक हमेशा ऐसे अ-लौकिक प्रभुकी ही सेवा करते रहना चाहिए. प्रभु अपना हित ही करेंगे.

हकीकत तो यह है कि प्रभुके साथ ही नहीं, दो मनुष्यके बीचके संबंधोंको भी यदि स्वस्थ और टिकाउ रखना हो तो एकदूसरेके प्रति आदर और संवेदना होने अनिवार्य हैं:

"दादाजी घोड़ा बनकर पौत्रको अपनी पीठपर सवारी कराते हैं तब उस बच्चेके मनसे वे दादाजी और घोड़ा दोनों होते हैं, और दादाजीके लिए वह बच्चा अपना पौत्र और अपनेपर सवारी करनेवाला घुड़सवार दोनों होता है. हाथमें हंटर रखकर घोड़ा बने दादाजीपर सवारी करनेवाला बच्चा 'हत घोड़ा, चल' करके धीरसे उन्हें हंटर मारता है तब उन्हें वह घोड़ेकी तरह स्वीकार लेता है. मगर शायद हंटर जोरसे लग जाए तो 'लगा दादाजी?' कहकर वह तुरंत यह घोड़ा नहीं है पर दादाजी हैं ऐसे अपने ज्ञानकी भी अभिव्यक्ति करता है. दादाजी भी उसी तरह पीठ पर बैठे सवारके हुकमका पालन करते हैं. मगर वह सवार समतुला गवाँकर भूमिपर गिर जाता है तब 'लगा तो नहीं न बेटा?' कहकर उसके पौत्रत्वको याद करते हैं. बच्चा घोड़ेको भूल जाए वह भी नहीं चलेगा और दादाजीको भुला दे वह भी नहीं चलेगा. और दादाजी भी वह सवारकी गरिमा न रखें तो खेलमें भंग होगा, और यह पौत्र है इस तथ्यका सर्वथा विस्मरण करे तो भी खेलमें भंग होनेकी पूर्ण संभावना खड़ी होती है."

(—श्रीज्योतीन्द्र दवेके 'वाङ्मयचिंतन'में से साभार अनुवादित).

दोनों पक्ष जोरदार हो तो राणा प्रताप और चेतक के बीच भी ऐसा आदर और संवेदनाभरा संबंध जीवनभर बना रहता है, और न हो तो पति-पत्नी या पिता-पुत्रका भी एकदूसरेके साथ नहीं जमता. प्रभु के साथ कैसा संबंध बाँधना वह हमें तै करना है.

*

५. सत्संग

एक सर्वेक्षणके अनुसार औसतन् अमेरिकन बालक १८ सालका हो तब तक टी.वी.-थियेटरमें २५,००० हत्याएँ परदेपर होती देखता है. अन्य मार-धाड़ तो अलग ही. वे बच्चे शाला-कोलेजोमें और पूरा दिन शस्त्र साथ रखते हैं, बातबातमें उसका इस्तेमाल करते हैं. बालअपराधी बढते जाते हैं. शिक्षक, माँ-बाप, सगेसंबंधी सब आतंकके सायेमें जीते हैं और उन्हें सलाह या डाँट देनेके पहले सौ बार सोचते हैं.

लाभशंकरभाई कहते हैं वैसे यह अजनबी राक्षसी खोजका प्रयोजन तो है जानकारी देना, अज्ञानको ज्ञानमंडित करना, प्रसन्नता-स्वस्थता देना और जागरुकता बढ़ाना; मगर अतर्क्य कारणवश अथवा चालाकीसे, जानकारी देने और संस्कृतिके निदर्शनका प्रयोजन लुप्त हो गया है. बाढ़की तरह वह स्थापित मूल्योंका विनाश ही करता है. टी.वी. मनुष्यके अत्यंत निकट आ पहुँची गूढ़ और भयानक चीज है. यह छोटी चीज क्या क्या गुल खिलाएगी उस बारेमें भविष्यवाणी करना शायद अशक्य है.

लंडनमें १२ सालसे कम उम्रके नियमित दूध पीते स्कूलमें जाते बच्चोंका एक सर्वेक्षण किया गया. उसका शत प्रतिशत नतीजा एक पक्षमें आया कि उनमेंके एक भी बच्चेने गाय या भैंस देखी तक नहीं थी और उनका आकार कैसा होता है उसकी कल्पना भी उन्हें नहीं थी. ज्यादातर वे भी टी.वी. देखते ही होंगें.

प्रसार माध्यमोंके लिए मनुष्य कुत्तेको काटे तो कुछ समाचार बनता है; कुत्ता मनुष्यको काटे उसमें हैरत क्या? सनसनी क्या?! व्यस्त माँ-बाप घरमें टी.वी.-अखबार-सामायिकोंको लाकर संतानोंको यह बात समझानेकी जिम्मेवारीसे छूट जाते हैं और यह माध्यम दैनिक व्यवहार या प्रेक्षक/वाचककी विवेकबुद्धिके भरोसे उत्तरदायित्वसे छटक जाते हैं. कुल मिलाकर अस्वाभाविक बातें ही स्वाभाविक हों ऐसा प्रतीत होता है. पुलिसवालोंका काला पहलू दिखाती अपनी फिल्मको 'अर्धसत्य' कहनेवाले निखालिस जागरुक निर्माता अपवाद ही होते हैं. नतीजा? उत्तेजना.

"मनुष्यजीवन ही कुछ इस तरह पल रहा है कि मानव उत्तेजनाका आदी हो गया है. सुबहका अखबार देखे और उसमें कुछ उत्तेजक समाचार न हो तो वह आदमी अखबार समेटकर एक ओर रख देगा और पडोसीको कहेगा– आजके अखबारमें कोई खास खबरें नहीं छपी हैं. अपनी मनःस्थिति ही कुछ ऐसी हो गई है कि निरी सरलता किसीको पसंद नहीं आतीं. शांति किसीको नहीं चाहिए. हमारी आँखें सतत उत्तेजनाको ढूंढती रहती

हैं..ये सभी सामायिक और अखबार जिसमें 'अॅक्साईटमॅन्ट' हो ऐसे समाचार और कहानियों के शिकारमें डकैतकी तरह निकल पड़ते हैं. . .आदमी उत्तेजित होकर ऐसी वाचनसामग्रीको भूखी नजरसे चाट जाता है. हमारे सिनेमावालोंने भी मनुष्यकी इस कमजोरीको परख लिया है इसलिए खूनखराबा, मारधाड़ और उत्तेजक मसालेवाली फिल्मोंका निर्माण करते रहते हैं."

(—'पवननी व्यासपीठ'में से साभार अनुवादित).

श्रीज्योतीन्द्र दवे 'वाङ्मयचिंतन'में कहते हैं—

"लोग याने प्राकृतजन और प्राकृतजनोंकी रुचि भी प्राकृत ही होगी ऐसा मानकर मनुष्यके अधम भावोंको उत्तेजित करें ऐसी रचना करनेवाले अकसर अपने बचावमें कहते हैं– 'हम क्या करें? हम तो लोगोंको जो पसंद है वह दे रहे हैं. अच्छी चीज देनें जाएँ तो लोगोंको वह पसंद नहीं आती. अव्वल दर्जेके नाटक चलते नहीं हैं. हमें भी पेटकी ओर देखना चाहिए या नहीं?"

सिर्फ पेटकी ओर देखनेवाले ऐसे लोग हृदयकी ओर नहीं देखते. दिमागकी ओर न देखें तो कोई दिक्कत नहीं, मगर पेटके ऊपर ही आए हृदयकी ओर उनका ध्यान क्यों आकर्षित नहीं होता यह प्रश्न उठता है. . .

इस तरह अधम कृतिओंके बचावमें लोगोंकी रुचिको आगे करना सरासर गलत है. दूसरे नजरियेसे देखें तो कलामात्रका धर्म रुचिको केवल उद्दीप्त करनेका नहीं है परंतु उसे संस्कारी बनानेका भी है. इन्द्रियग्राह्य विषयसुखको अतीन्द्रिय बनाकर उसका रसास्वाद सूक्ष्म तरीकेसे भोक्ताको कराना यह कलाका धर्मविशेष है. कलाकृतिके रसास्वादके अंतमें भोक्ताको तृप्ति ही नहीं, शांति भी मिलनी चाहिए. घटिया भावोंका आलेखन करनेवाली कृति न तो तृप्ति दे पाती है न ही शांति. वह तो सिर्फ उकसाती ही है. तंग हुई एगोंको शांत करके निद्राको प्रेरित करनेवाली औषधि और नशा चढाकर बेहोश बनानेवाले मादक पदार्थोंके बीच जिस प्रकारका भेद होता है वैसा तारतम्य इस प्रकारकी कृति और उत्तम कलाकृति के बीच रहता है."

श्रीअनिल जोशी आगे लिखते हैं— "आज एक भी ऐसा क्षेत्र नहीं है कि जहाँ उत्तेजनाकी अपेक्षा न रखी जाती हो. हर एक मनुष्य समथिंग अॅक्साईटींगकी खोजमें घूमता रहता है. वह लाटरीकी टिकटें खरीदता है, डिटेक्टीव कथाएँ पढता है, बीभत्स फिल्में देखता है. . . कोई उत्तम कविता या उत्तम निबंध या अच्छा लेख आज किसीको आकर्षित नहीं कर पाते. शेक्सपियर, कालिदास, शेली, बायरन —ये सभी सर्जक म्युझियममें

डेरा जमाए बैठे हैं. किसीको लंबा पढनेका समय नहीं है. पढ़नेका ही समय न हो तो चिंतन-मननकी बातें ही कहाँ उठ पाए?

. . इस मनःस्थितिके कारण हम आल्बर्ट आईन्स्टाईन या आईझेक न्यूटन पैदा नहीं कर पाए. रवीन्द्रनाथ या गालिबको जनम नहीं दे पाते. मगर मारुति कारसे हमने अपने रास्तोंका ट्राफिक जाम कर दिया है. सफारीसूटका और ब्रिफकेसका कल्चर उतनी हद तक बढ चुका है कि ब्रह्मांडमें आते बदलावोंकी उत्तेजना हमें नहीं होती."

मनुष्य भले ही पकी या मरी या मोटी चमड़ीका हो गया हो, उसका संवेदनातंत्र अभी भी ज्योंका त्यों नाज़ुक ही है.

आजकल एक जेटलेग नामक रोग होता है. जेट विमानोंकी वजहसे जगत इतना छोटा हो गया है कि इन्सान सुबह मुंबईमें खाना खाए तो दोपहरका नाश्ता दुबईमें करके रातका खाना युरोपमें खा सकता है. मगर हरएक देशका स्थानिक समय अलग अलग होता है; मुंबईमें रात हो तब अमेरिकामें सुबह हुई होती है. हरएक प्राणीके शरीरकी एक अपनी निजी घड़ी होती है— समयपर जगने, खाने, सोनेकी. जहाँ लंबे अरसे तक रहें वहाँके सूर्योदय-सूर्यास्तके हिसाबसे जमे हुए इस घड़ीके संयंत्र नई जगह जाते बिखरसे जाते हैं. शरीरके विविध तंत्रोंको इसकी असर होती है. पूर्णतया नई जगहके अनुरूप होते करीब एक माह लगता है. इस महिनेके दौरान इन्सानको शर्दी बुखार अनिद्रा जैसे उपद्रव तो होते ही हैं, मगर संवेदनातंत्र क्षतिग्रस्त होनेसे उसका बर्ताव भी विचित्र हो जाता है. कहा जाता है कि रशियाके नेता क्रुश्चोवने इस जेटलेगकी असर तले ही अमेरिकास्थित युनोके मुख्यालयमें चालू सभामें अपना जूता निकालकर टेबलपर पटका था..

संवेदनातंत्रमें छोटीसी खलबली इन्सानको इस हद तक उकसा देती है. शरीर या मन के स्वभावके साथ छेड़खानी करनी खतरनाक है.

सरलतासे समजना हो तो दुःसंग और कुछ नहीं है मगर जेटलेग ही है. पर जेटलेगसे ज्यादा खतरनाक, क्योंकि महिनेभरमें जानका पीछा छोड दे ऐसी माया वह नहीं है— "ध्यायते विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते, संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोभिजायते, क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः, स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति." जानलेवा रोग है यह दुःसंग.

ब्रह्मसंबंध दीक्षा लेनेके बाद प्रभुको समर्पित दास होना यही जीवका

स्वभाव है और इस स्वभावमें खलबली पहुँचानेवाला सब कुछ दुःसंग है.

श्रीआचार्यचरण इसलिए आज्ञा करते हैं कि हमेशा सब तरीकेसे आत्मनिवेदन जिन्होंने किया हो वैसे भगवदीयोंके साथ निवेदनके भावका अहर्निश चिंतन करते रहना चाहिए. यही सत्संग है.

ये सत्संग भी दो स्तरपर चलता है: *"अत्यारे जे चाली रही छे ते तो शिक्षा छे, भगवद्वार्ता नथी. अत्यारे आ सारुं ने आ खराब, आपणामां आ न्यूनता, आपणे आम करवुं जोईए —तेनी ज वातो चाले छे. भगवद्वार्ता तेनुं नाम के जेम श्रीमहाप्रभुजी दामोदरदासने आज्ञा करता के 'आज कईवारसूं भगवद्वार्ता न भई.' केवल लीलासंबंधी वार्ता ते ज भगवद्वार्ता. . . शिक्षा माटे चोर्यासी-बसोबावन अने शिक्षापत्रो, लीला माटे कीर्तनो."*

इसमेंसे शिक्षा स्वसेव्यप्रभु प्रति अपना आदर बना रहे इस लिए है और भगवद्वार्ता संवेदना बनी रहे इस लिए.

स्वसेव्यप्रभुके प्रति चिरंतन आदर तब ही बना रहेगा जब हम हमारे और प्रभुके स्वरूपको हमारी स्वभावमर्यादामें समझकर अहोभावपूर्वक अपने भेद या तारतम्यको निभाएं; अर्थात् स्वभावमर्यादा, भेदबुद्धि, अहोभाव और हमारे तथा प्रभुके स्वरूपकी समझ दृढ़ बने रहें.

उत्तेजित होनेपर मानवकी स्वभावमर्यादाका कभी अतिक्रमण हो जाता है. कच्ची उम्रमें अश्लील फिल्में-किताबें देखने-पढ़नेसे बालक अपने आसपासकी स्त्रियों– शिक्षिकाएँ, या फिर चाची-मौसी-मामी या पड़ोसनों– को भोग्य स्त्रियोंकी तरह और अपने आपको भोक्ता पुरुषकी तरह देखने लगता है ऐसा मानसशास्त्री कहते हैं. हिंसाके अतिरेकवाली फिल्में-किताबोंके प्रभाव तले खुदको जरा भी तंग करनेवालोंके प्रति क्रोध और जखमी करनेके भाव जगते हैं. "आखिर हरएक बालक एक पुरुष है और वयस्क होने ही वाला है न? और उसके संपर्कमें आनेवाली स्त्रियाँ भी स्त्री तो हैं ही न? आखिर तो समूचा समाज ही सड़ा हुआ है न? सब चोर और दंड देने लायक ही हैं न?"! मैंने कोई दंगा करनेवालेको पुलिस पकड़कर ले जाती हो तब ऐसी दलील करते नहीं सुना है कि आखिर तो हम सब बंदरमेंसे ही उद्भवित हुवे हैं न! सभ्यता और संस्कृति जैसा कुछ है ही जो छटैल मनोवृत्तिको लगाममें रखे. जो आखिरमें जाके सत्य हो वही सत्य है ऐसा मानना मूर्खता है.

ज्ञान पाना बहोत सरल है आज, बंदूक बनाने या बेन्क लूटने का भी ज्ञान और प्रशिक्षण सरलतासे मिल जाता है; महत्त्व उसे पचानेका है. आज किशोरोंको प्रसूतिका भी ज्ञान देनेकी चर्चे हो रहे हैं मगर उससे उनका स्वभाव प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा वह कोई नहीं सोचता है. खैर.

सृष्टिमें जो भेद प्रकट हुए हैं वह अपना अपना स्वभाव लेकर प्रकट हुए हैं. कमल दिनमें खिलता है तो कुमुदिनी रातको. आम गर्मीमें पकता है तो अनार बारिशमें. लोग सात्त्विक-राजस-तामस प्रकृतिके भी होते हैं तो ब्राह्मण-क्षत्रिय भी होते हैं तो स्त्री-पुरुष भी होते हैं और बाल-वृद्ध या गरीब-अमीर या मूर्ख-चतुर भी होते हैं. सुबल-तोक भी कृष्णके सखा हैं तो अर्जुन भी सखा है, सुदामा भी सखा है और उद्धव भी सखा है; फिर भी उनके स्वभावमें काफी अंतर है.

प्रभु उतने समर्थ हैं कि जैसेके साथ वैसे हो सकते हैं: "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्." जीवको इसलिए अपनी स्वभावमर्यादाका अतिक्रमण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है. केवल उपनिषदोंमें ही बत्तीस ब्रह्मविद्याएँ दिखाई गई हैं और उनमेंकी कोई भी एकसे ब्रह्मज्ञान हो सकता है: "वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यः." व्रजभक्त तामस स्वभावके थे तो प्रभुने उनके साथ तामसलीला की और यादवोंके साथ राजसलीला. कंसको डरा दिया तो यशोदाजीसे खुद डर गए! प्रभुचरण श्रीगुसांईजी आज्ञा करते हैं कि प्रभु जीवके स्वभावानुसार लीला करके धीरेधीरे उसका चित्त न चोरकर एक झटकेमें ही चित्त खींच ले तो जीवको क्लेश होगा, प्रभुकी दयालुता सिद्ध नहीं होगी और वैसी लीला रसाल नहीं बन पाएगी. अर्जुन विराटस्वरूप देखकर कांपने लगा और फिर उसने प्रभुको बिनती की कि यह स्वरूप परिहरके फिरसे सारथि हो जाएँ. गोपीजनोंको उद्धवजीकी ज्ञानकी बातें कैसे पचे? यदि उद्धवजीके मुखसे कही भी न पचे तो प्रभु स्वयं वैसी बातें करे तो क्या माननेमें आएगी?!

स्वभावमर्यादा बनी रहे तो रस बना रहेगा, भाव बना रहेगा, आनंद बना रहेगा, सेवा बनी रहेगी. इसीलिए श्रीआचार्यचरणने जलभेद ग्रंथ प्रकट किया है. उसमें संक्षिप्तमें समझाया है कि संसारी, मुमुक्षु या मुक्त ऐसे विविध मार्गोंके वक्ताओंके प्रवचनादिसे आत्मनिवेदन करनेवाले पुष्टिभक्तको कितना लाभ और कितनी हानि होगी. लाभदायक वक्ताओंकी सूचि बहोत छोटी है और उनका भी बडा अवगुण यह है कि वे दुर्लभ होते हैं, बारबार सात दिनके लिए जमा नहीं देते. सत्संग हमेशा स्वमार्गीय वैष्णव; वे भी फिर निरपेक्ष-सात्त्विक-कृष्णरतिका उद्बोधन करनेवाले हो उनके संग

ही, करना. वरना तो ग्रंथोंका स्वाध्याय करना चाहिए.

और फिर ऐसे वैष्णव/ग्रंथ भी समानशीलव्यसन होमे चाहिए. हमें स्वसेव्यप्रभु प्रति बालभाव या सखाभाव हो और सत्संगी भाई किशोरभाव या फिर जगद्गुरुभाव का ही विकास करनेका उपदेश देते रहते हो तो भावकी कली मुरझा जाएगी. ज्यादा विरहकी रो-पीट सुन सुनके पके हुए कान संयोग समयमें भी खुजलाने लगेंगें. इसलिए श्रीहरिरायचरण आज्ञा करते हैं कि अपने और दूसरे के भावकी छान-बीन करके बादमें ही उनका संग करना, दूसरा चाहे कितना भी प्रख्यात या महान खानदानका क्यों न हो. स्वाभाविक है, क्योंकि एक तो सेवामें सेव्यप्रभुका आदर बना रहे एतदर्थ अपनी स्वभावमर्यादा बनी रहे उस हेतुसे सत्संग करना है और वही ऐसा करें कि उसके कारण अपनी स्वभावमर्यादा ही कुचल जाए तो वैसे सत्संगका फायदा क्या?

किसीको भले ही लगे कि यह संकुचित मनोवृत्ति या वाड़ाबंधी है, श्रीआचार्यचरण सच्ची आज्ञा करनेमें किसीकी भी परवा नहीं करते. उनपर जगद्गुरु बननेका कोई भूत सवार नहीं है. वे तो वैष्णवोंके हृदयमें रहे भगवद्भावके सगे हैं, प्रसिद्धिके नहीं. वे इन प्रभुविषयक आदर और संवेदना को भी निधि ही मानते हैं और सेव्यप्रभुसे उन्हें थोड़ेसे भी न्यून नहीं गिनते. इसीलिए उनके पोषणके लिए आलस्य, प्रमाद और रुतबा छोड़कर सत्संग करनेकी आग्रहपूर्वक आज्ञा करते हैं.

"सो एक दिन वैष्णवके घरतें अर्धरात्रि समें सेठ पुरुषोत्तमदास आवत है. . .

भावप्रकाश— यह कहिके यह जताये जो सेठ ऐसे कृपापात्र भगवदीय हते. परंतु वैष्णवके संग अर्थ आपु चलाईके जाते. तातें वैष्णवको संग अवश्य करनों. काहेतें? श्रीआचार्यजी लिखे हैं– 'पोषकाभावे तु शिथिलम्', पोषकको अभाव होई तब मन सिथिल व्है जाई, भक्ति घट जाई. सो पोषण सत्संगतें होई."

इसलिए नसीबमें जो भाव और स्वभाव मिले हैं उन्हें दृढ और विकसित करने चाहिए, व्यर्थमें कर्म-ज्ञान-भक्तिके त्रिवेणीसंगमकी खीचड़ी पकानेके बजाय.

इस तरहसे भाव और स्वभाव को बनाए रखनेके लिए प्रभु और अपनेमें भेद है ऐसी बुद्धि भी बनी रहनी चाहिए. ज्ञानमार्गी अभेदबुद्धिको विकसित करें वह ईष्ट हैं मगर भक्तिमार्गीको वह रसानुभूतिमें बाधक होगा. इसलिए ज्ञानमार्गीका संग अपने लिए दुःसंग है और वर्जित है.

इस भेदबुद्धिपर रामानुज और माध्व संप्रदायोंमें काफी जोर दिया गया है और ईसाई तथा इस्लाम धर्मोंमें भी. अतिरेक परंतु यहाँ भी हानिकारक है. आदर उस स्थितिमें जीवंत और चिरंतन नहीं रह जाता. आवश्यकता संतुलनकी है; प्रभु आत्मीय लगे वह भी उतना ही जरुरी है पुष्टिमार्गमें जितना कि स्वामी लगे यह भाव. श्रीआचार्यचरण इसलिए तात्त्विक तौरपर अर्थात् स्वरूपतः जीवका अभेद मानते हैं और यह ब्रह्मविद्याविशारदताको भी सेवक होनेकी एक आवश्यकता बताते हैं, परंतु साधनामें इस भावका पोषण न करके सावधानीपूर्वक लीलानुसारी भेदबुद्धिको ही प्रवृद्ध करते हैं.

अहोभाव बना रहे इस लिए दैन्य तथा निःसाधनताका भावन हममें और कृपालुताका भावन प्रभुमें करना चाहिए.

आज तो हमें सेवामें कर्तव्यबुद्धि भी नहीं होती, मगर फिर भी समझी जा सके वैसी बात है कि रोज २-४-६-८ घंटे सेवा करें तो सेवाका अहंकार भी हो सकता है. बहुत कम कसरतबाजोंको खुदके देहसौष्ठवका गर्व नहीं होता; अक्सर बातबातमें उसका प्रदर्शन करते रहते हैं. भगवत्सेवकको भी सौभाग्यमद हो सकता है, और कभी सेवा न करनवालें अन्य जीवोंके सामने तो कभी स्वयं प्रभुके सामने उसे प्रदर्शित करनेकी मनोवृत्ति जग सकती हैं.

दैन्य और निःसाधनता का भावन मनको ठिकाने लाता है कि अपन चांडाली थे और रानी बने वह राजाकी कृपादृष्टिसे, नहीं कि अपनी योग्यताके कारण. राजाको प्रसन्न कर पाना ही जीवकी एकमात्र योग्यता है और उससे ही सेवा मिलती रही है और मिलती रहेगी; सेवा कोई विरासतमें नहीं मिली है. बहोत नसीब और कृपा हो तो सेवा मिलती है: "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्."

ऐसे भावनसे अहोभाव और उसके द्वारा आदर स्थायी रहता है.

प्रभुके, महान भक्तोंके और अपने स्वरूपकी समझ होनी भी आदर बनाए रखनेके लिए आवश्यक है.

"श्रीआचार्यजी श्रीसुबोधिनीमें कहत हैं— श्रीठाकुरजीकी लीलामें श्रीठाकुरजीके स्वरूपमें दोई भावना करें तब श्रीठाकुरजी अप्रसन्न होई; एक असंभावना, एक विपरीतभावना. असंभावना यह जो श्रीठाकुरजी परायेसों विहार किये. ठाकुरजी हीन जातिके घर कैसे आरोगत होइगे? श्रीठाकुरजीके छुयेतें यह वस्तु छूई जायगी. अहीर ज्ञातिके बिना न्हाये क्यों भोजन किये?

श्रीठाकुरजीकों फलानो रोग भयो. श्रीठाकुरजी नित्य तो प्रमान अरोगत हैं, अन्नकूटमें ईतनो सब कैसे अरोगेंगे? श्रीठाकुरजी अब वृद्ध भये. श्रीठाकुरजी यह लीला क्यों किये? —यह नाना प्रकारके कुतर्क प्रभुमें करनो नाहीं. काहेतें, 'पुरुषोत्तमसहस्रनाम'में कहे हैं 'तर्कागोचरकार्यकृत्'. ऐसो कार्य है. प्रभुको कार्य तर्कतें अगोचर है. कोईकी बुद्धिमें तर्कमें आवे नाहीं. कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुम् सर्वसामर्थ्ययुक्त हैं. यह असंभावना, और विपरीतभावना यह जो श्रीठाकुरजीके श्रीमुखमें वास आवेगी, तातें दातन करावनो. एक ठिकाने खरचूकी भावना करनी. चौरासी कोस व्रज हैं; एक दिनमें सगरे कैसे फिरे? ईतनी गाई हैं; सब कैसे दुहत होइगी? आगे व्रजमें प्रकटे, अब व्रजमें कहां हैं? कहूं व्रजमें दीसत नाहीं. हीन वस्तु गाजर, मूरि, कलिंगडा आदि सब ठाकुरजीने प्रकट कियो है, याको भोग धरिवेमें कहा बाधक है? श्रीठाकुरजी एक, सगरी गोपिकानसों कैसे विहार करत होइगी? इत्यादिक विपरीतभावना भई. या प्रकार असंभावना-विपरीतभावनातें श्रीठाकुरजी अप्रसन्न होई —यह जताये. सो न करनो."

भावकी उत्कटतामें व्रजभक्तोंने जो किया वह भाव न हो फिर भी करना हमें नहीं शोभा देता. हम कात्यायनीव्रत या फिर इन्द्रकी पूजा आदि नहीं कर सकते.

"स्वरूपनुं अनुसंधान नथी एने लइने बधी मूंझवण (उलझन) छे. हुं कोण छुं? मारे क्यां जवानुं छे? मारुं शुं कर्तव्य छे? – एनुं जीवने भान नथी एटले गोथां खाय (भटकता) छे."

श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि जीव स्वरूपस्थ हो तब उसे कृतार्थ हुआ समझो. मगर खुदका स्वरूप क्या है वह तय करनेमें ही ज्यादातर जीवका जीवन चला जाता है. खुद मनुष्य है, पुरुष है, भारतीय है, हिंदु है, ब्राह्मण है, गृहस्थ है, पिता है, पति है, वैष्णव है . . . क्या है और क्या नहीं वह मालूम पडे तब जाके सब खुलासा हो. शास्त्र काफी प्रेक्टिकल है इसलिए इसमें से कोई भी देहाभिमान/स्वाभिमान हो उसे ध्यानमें रखकर उपदेश दे देता है, कोई एक उच्च कक्षाका देहाभिमान हो उस दिनकी राह नहीं देखता. वह देहाभिमान हो तब तक वह उपदेशका अनुसरण करना आपका स्वधर्म है ही. श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि आपको आपके वर्ण या आश्रम का अभिमान (प्रबल अनुभूतिके अर्थमें) हो तो वर्णाश्रमधर्म ही आपका स्वधर्म है, भगवद्धर्म भी विधर्म या परधर्म है.

परंतु आत्मनिवेदन करनेके बाद परिस्थिति बदल जाती है. श्रीआचार्यचरण और श्रीहरिरायचरण, यह प्रक्रियाकी एक कन्याके जीवनमें विवाह करनेसे

आते बदलावके साथ तुलना करते, आज्ञा करते हैं: "जैसे विवाह होनेपर स्त्रीको यह पुरुष मेरा पति है ऐसा भाव होता है वैसे यहाँ ब्रह्मसंबंध होनेपर श्रीकृष्ण मेरे स्वामी हैं ऐसा भाव जगता है. जैसे विवाहके पहले स्त्रीमें रहे हुए कोई दोष विवाह होनेपर निवृत्त होते हैं और दाम्पत्यमें प्रतिबंधक नहीं रह जाते वैसे यहाँ भी ब्रह्मसंबंध होते ही जीवमें सेवामें प्रतिबंधक हो ऐसे कोई दोष नहीं रह जाते. जैसे विवाहिताको अन्यसंबंध करने, पतिका अनुच्छिष्ट खाने, पतिको खुदका उच्छिष्ट खिलाने और खुदका अन्यत्र विनियोग करनेपर दोष लगते हैं वैसे निवेदी जीवको अन्याश्रय, असमर्पितग्रहण द्वारा दोष लगते हैं. जैसे विवाहिता दूतीद्वारा अपने उत्तम देहादि पतिको अर्पण करती है वैसे निवेदी जीवको बडोंकी कानिसे सर्व उत्तम वस्तुओंका प्रभुको समर्पण करना चाहिए. जैसे खुदकी अनन्यताके अनुसंधानका अभाव विवाहिताको बाधक है वैसे निवेदी जीवको भी बाधक है. इसलिए जैसे स्वजनोंकी सहायसे स्त्री अपने पातिव्रत्यकी रक्षा करती है वैसे निवेदी जीवको तादृशी जनोंके साथ निरंतर ब्रह्मसंबंधका चिंतन करते रहना चाहिए."

संवेदना इन सबकी शिरोमणिसमान है.

कोई भी साधना करनेमें चार प्रकारसे विद्रोह करके मन या शरीर साधकको साधनासे विरत कर सकते हैं— लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद. सेवा करनेमें मनके संकल्पको कोई साथ ही न दे वह लय. जैसेकि सेवा या सत्संग करते करते नींद ही आने लगे! मन साधनामें न लगे और साधना करते समय दुकान या मकान या जूते खरीदने और घोड़े खरीदने में ही रत रहे यह विक्षेप. मन साधनामें न लगकर इलेक्ट्रिक शॉक लगा हो वैसे स्तब्ध ही हो जाए वह कषाय, मानो प्रतिमा ही न हो! और फिर साधनामें न लगकर मन साधनासंबंधी गौण बातोंमें ही आस्वाद लेकर संतुष्ट हो जाए वह रसास्वाद— फूलके हिंडोला और केसरके हिंडोला और बुंदी और मोहनथाल! आहाहा!

साधना प्रायः परिश्रमसाध्य होती है और उसमें आनंद स्वाति नक्षत्रके मेघके जल जैसा दुर्लभ होता है. उसे पाने इसीलिए चातक जैसी आर्ति हृदयमें चाहिए, संवेदना हृदयमें चाहिए, तृषा हृदयमें चाहिए. श्रीमहाप्रभुजीकी कृपासे प्रभु हमारे घर ही बिराजते होनेसे इतने दुर्लभ नहीं हैं, फिर भी भावकी निकटता न हो तो हम उनके पास रहकर भी दूर ही रह जाते हैं.

आज 'जनरेशन गॅप'की वजहसे एक ही परिवारके सदस्य एक घरमें

रहकर भी एकसाथ नहीं रहते, दो अलग अलग युगमें जीते हैं. असलमें एकदूसरेकी संवेदना, सहानुभूति नहीं रहती.

कंई लोगोंको प्रश्न होता है कि इतिहासकारोंके मुताबित ५००० वर्ष पहले तो शास्त्रकारोंके मतसे युगांतर / कल्पांतरमें प्रकटित कृष्णकी भक्ति हम आज करें वह कैसे प्रेक्टिकल और बुद्धिगम्य है?

संवेदना देश-काल-स्वरूपकी सीमाओंसे अतीत हो सकती है. संवेदना हो तो हम अर्जुनकी व्यथाको समझ पाते हैं, रामलीला देखते देखते तन्मय हो जाते हैं. संवेदनशील ऋषि वाल्मीकि क्रोंच पक्षीका शिकार देखकर स्वयं व्याकुल हो जाते हैं तो जडभरत ऋषिका जी हिरनके बच्चेमें रह जाता है. बंगाली भाषा-माहोल-कथानकमें सत्यजित रायकी बनाई फिल्मोंका आस्वाद फ्रेन्च रसिक भी ले पाते हैं. संवेदना हो तो दूर रहकर भी स्नेह बढता है और न हो तो साथ रहनेवालोंको भी तलाक लेने पड़ते हैं.

संवेदना कोई भौतिक प्रक्रियासे होलसेल या रिटैल पैदा नहीं की जा सकती है. मगर जो प्रक्रिया दुःसंगकी है वही सत्संगकी है कि "संगात् संजायते कामः". संग करते रहोगे, भगवत्स्वरूप और लीला का तथा भगवद्गुणोंका चिंतन करते रहोगे तो भगवत्सेवाकी कामना होगी, आर्ति होगी, प्यास लगेगी. तब सेवा करते करते चित्त तन्मय हो जाएगा; न लय होगा न विक्षेप न कषाय न रसास्वाद. इसलिए संग निरंतर करते रहना.

"एकवार श्रीपाते पूछ्युं के महाराज, मन चरणारविंदमां शी रीते (किस तरहसे) रहे? त्यारे आपे आज्ञा करी के सुरत (सुधि) करी करी चित्तमां य लावे अने अभ्यास करतो रहे तो आवे. जेम कुवानी पर पाषाणना थालाने (छीलरको) दोरीना कापा (खरोंच) पड़े छे, तेम मन पर पण अभ्यासथी असर थाय छे. जो पथ्थर पर अभ्यासथी घसारो पड़े तो मन पर पण अभ्यासथी चरणारविन्दनी असर केम न पड़े?"

भगवद्वार्ता करते समय भी सावधानी रखनी जरुरी है. उसके लिए श्रीआचार्यचरणने 'पंचपद्यानि' ग्रंथकी रचना की है, जिसमें कैसे श्रोताके सामने किसका वर्णन करना और किसका छुपाना यह संक्षेपमें समझाया है.

"और भगवदीय वैष्णवके आगे लीलाको गान करनों. साधारण कोई बैठो होय तो शिक्षाकी बात कहेनी, शिक्षाके कीर्तन गान करने. जो भक्तिमार्गको द्वेषी बहिरमुख बेठ्यो होय तो अपने मनमें गुनगांन भगवद्स्मरण करनों;

बाहिर अपने धर्मको प्रकाश करे नहीं.''

बाजुमें दर्द होने लग जाए उतनी रस्सीखिंच करे तब जाके कूएके छिलर पर खरोंच पडती हैं! हकीकतमें तो वह नक्काशीकाम है, खरोंच नहीं. मन पर प्रभुकी नक्काशी हो जाए वही तो जीवनकी सिद्धि है. उसे झेलनी चाहिए.

भगवत्सेवकके जीवनमें सत्संगकी खुराक या विटामिन जितनी जरुरत है मगर आज हम मुखवासकी तरह भी सत्संग नहीं करते. हफ्तेमें एक बार 'चेन्ज'की तरह करते हैं. पहले तो कितनेकको गाँवमें सत्संगी न हो तो छह-आठ कोस चलकर दूसरे वैष्णवोंके घर जाना पड़ता, फिर भी वे आग्रहपूर्वक नियमसे रोज जाते. आज वैसे तो हम दुनियाके कोईभी कोनेमें रहते होने पर भी मार्किं पुस्तक, सामायिक, केसेट इत्यादि प्राप्त कर सकते हैं और करते भी हैं; फिर भी हम आलस्य या प्रमादमें से ऊपर नहीं उठ पाते.

''दामोदरदासजीअे कह्युं के 'सुन्यो पर कछु समज्यो नाहीं'. जे नहोता समजता एने समजवानुं घणुं हतुं, परंतु आपणे बधा समजीए छीए एटले आपणे समजवानुं कांई बाकी नथी! . . . हवे आ माणस आटलुं तो करे छे, बीजा (दूजा) तो आटलुं पण नथी करता —एवी दृष्टि लोकोमां आवेली छे. पहेलां आवी दृष्टि नहोती. आ रीते आगल वधवानी आशा छोडी देवी.''

जरुरत सत्संगका पुनर्मूल्यांकन करनेकी है, उसकी दुर्लभता समझनेकी है. वह नित्यनियमपूर्वक अपने आप करना है और वक्ता-श्रोताकी छान-बीन करनेके बाद ही करना है. कुछ विषय न समझमें आए तो गुरु या अन्य विश्वासपात्र जानकारीवाले वैष्णववर्योंसे उसे समझना है, मगर प्रमाद नहीं करना है. और फिर दुःसंगसे चौकन्ने होकर उससे दूर रहना है. विशेष तीसरे शिक्षापत्रमेंसे समझना.

जमाना भले ही जेट विमानोंका हो, हमें तो उबड़खाबड़ रास्तेसे केवल सन्मुख ही होना है. मंजिल दूर नहीं है; पर इसी लिए तो खरगोश की तरह प्रमादसे सो जानेका मन होता है. आवश्यकता कछुएकी तरह सतत धीमी मगर दृढ गतिसे चलते रहनेकी है.

६. भगवत्सेवक

आज गृहिणियोंके दिमागमें ऐसा कुछ भर गया है या तो उन्हें भरमानेमें आया है कि जो धुलाईका साबुन ज्यादा झाग पैदा करे वह सबसे अच्छा. वास्तवमें वैसा न होने पर भी क्योंकि चल निकला है इसलिए, साबुनके हरएक उत्पादक अनावश्यक झाग बढानेवालें तत्त्वोंका अनुपात साबुनमें बढाते ही जाते हैं. पानीमें घुलने न वाले यह तत्त्व शहरोंमे मोरी या गटरों को जाम कर देते हैं. गाँवमें जहाँ गटरव्यवस्था नहीं होती वहाँ यह तत्त्व नदी या तालाब में घुसकर पानीकी सतहपर एक ऐसा आवरण बना देते हैं कि जिससे वातावरणमें रहा हुआ प्राणवायु नदी-तालाबके जलमें घुल नहीं सकता और उसके परिणामस्वरूप वहाँ बसनेवाले जलचर, जो कि ऐसे घुले हुए प्राणवायुके आधारपर जीनेके लिए ही बने होते हैं, उनका नाश होता है; उनका दम तूट जाता है इस आवरणकी बजहसे.

कहते हैं कि आजकलकी हिन्दी मसाला फिल्मोंमें कहानी चाहे कुछ भी हो, फिल्मकी दसेक रीलका मसाला तो पहलेसे तय होता है: एक गीत हिरो हिरोईनको पटानेके लिए गाता है, एक गीत दोनों एकदूसरेसे बेहद प्यार हो जानेपर साथमें– प्रायः पर्यटनस्थलोंपर या / और बरसते बरसातमें– गाते हैं, एक गीत कुछ अनबन होनेपर विरहमें गाते हैं, एक गीत खलनायकके अड्डेपर गाते हैं, उसके बाद एक रील जितनी मारपीट. उसके अलावा एक रील कोमेडी, एक रील संयोगवशात् शुरुमें बिछड़े हों वे अंतमें मिल जाए उसकी, इत्यादि. मूल कथाके अनुरूप हो या न हो, इतना मसाला तो होता ही है. प्रसंग मूल कथामें न हो तो खड़ा कर दिया जाता है. अच्छे अच्छे दिग्दर्शक भी इस प्रवाहमें बह जाते हैं.

धरमका भी आज कुछ ऐसा ही हाल है. शांति और सद्भावना, सहिष्णुता और भाईचारा, ''मज़हब नहीं सिखाता आपसमें बैर रखना'', ''धर्म और राजनीति की मिलावट नहीं होनी चाहिए'' . . . दो रील राजनीतिज्ञ जबरदस्ती थोप देते हैं तो अखबारवाले दूसरी चार रीलका अनुदान देते हैं: ''धर्म तो बस ऐसा होना चाहिए जो उसके अनुयायिओंको पुरुषार्थवादी बनाए, डाक्टरको रातदिन डाक्टरी करनेकी और विद्यार्थीको रातदिन अभ्यास करनेकी प्रेरणा दे, ऊंचनीचके भेद मिटाए, छुआछूत मिटाए, आवारा युवापीढ़ीको मादक द्रव्योंके व्यसनसे छुडाए, वृद्ध पीढ़ीको बीड़ी-दारुसे छुडाए, छटैल गुन्हेगारोंको अच्छे नागरिक बनाए, आतंकवादिओंको देशके मुख्य प्रवाहमें जुड़नेको प्रेरित करें, दुष्काल-सुकालमें समाजसेवाकी प्रेरणा दे, कलाओंको

प्रोत्साहन दे, खिलाड़ीओंको प्रोत्साहन दे, साहसवीरोंको प्रोत्साहन दे, अफसरोंको लांच न लेने की प्रेरणा दे . . . " कुल मिलाकर सब धर्म उनकी मौलिकता खोकर मसाला धर्म हो गए हैं, बिनसांप्रदायिक धर्म हो गए हैं. अनेक धार्मिक संप्रदायोंमें उच्च स्तरपर ऐसा सब माननेवाले अर्धनास्तिक अनुयायी बैठ गए हैं और एक आवरणसा बना दिया है. जिनको शांतिसे निष्ठासे अपना धर्म जीना हैं उन्हें वे जीने नहीं देते. कोई यह सोचता ही नहीं कि धर्मकी कमर इतना सारा बोज ढो सकेगी क्या? इतना मैल धोते धोते यह पावनकारी नदियाँ क्या मैली नहीं हो जाएगी? धरमकी नियतिमें क्या पापीओंसे ही पाला पड़ा है? पुण्यशाली जीव किसी दिन धर्माचरण करेंगे या सिर्फ अखबारोंमें और भाषणोमें उपदेश ही दिया करेंगे!

ईसाई मिशनरीओंका अनुकरण सर्वप्रथम स्वामी विवेकानंदने किया, और अब तो करीबन हरेक हिन्दु संप्रदाय तथा जैन भी धर्मके झंडे तले ऐसा सब करते हैं. धर्मके अनुयायी अनुयायी कम और स्वयंसेवक ज्यादा हो गए हैं.

"समकालीन पूंजीवादी समाजरचनामें समानताका अर्थ बदल गया है. समानता याने स्वयंसंचालितताका एकजैसापन. इन्सानने अपना व्यक्तित्व खो दिया है. आज समानताका अर्थ एकजैसा होना है; एकता नहीं. सब लोग एकसा काम करते हैं, सबको समान प्रकारका मनोरंजन मिलता है, सब अमुक वर्तमानपत्र पढते हैं, सबके वृत्तिलक्षण सरीखे हैं, सबके विचार एकजैसे हैं. विविधता नहीं, एकरसताका जमाना है. . .

समकालीन समाज इस समानताका सिद्धांत इसलिए पेश करता है कि उसे कारखानोंमें काम करनेके लिए मानवशक्ति चाहिए. सब समूहमें, शांतिसे, घर्षण बिना काम करें. सब एकसे हुक्मका पालन करें, और फिर भी सब ऐसा माने कि वे स्वतंत्रतया अपनी ईच्छानुसार बरत सकते हैं. जैसे कारखानेमें मालके उत्पादनका स्तर एकसा होना चाहिए ऐसे समाजमें भी इन्सानका स्तर सरीखा होना चाहिए. इस चीजको 'समानता' कहा जाता है. . .

परिणाम क्या आया? मनुष्य स्वयंसंचालित यंत्र जैसा बन गया है. हरएकको अपनी सलामतीका भय है इसलिए भीडमें रहनेका प्रयास करता है और भीडके विचार, भावना और कार्य अनुसार अनुकूल होने प्रयत्नशील रहता है. हरएकने अपने स्वतंत्र विचार और भावना खो दिए हैं. . ."

(— 'प्रेमनी कला' में से साभार अनुवादित; मूल लेखक: अँरिक फ्रॉम, भावानुवादक: डो. अमृत गणिगा).

सच्चे साधकोंका दम तोड़ देता है यह मसाला.

श्रीआचार्यचरण द्वारा प्रकटित मार्गकी खासियत यह है कि उसमें दीक्षित होनेसे व्यक्ति चेला या शिष्य या स्वयंसेवक समाजसेवक न बनके भगवत्सेवक बनता है. श्रीआचार्यचरणके हिंदू धर्ममें मौलिक प्रदानोंमेंसे एक यह भी है कि जीवके भगवत्सेवक होनेके पहलूको आपने उजागर किया. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध और षोडशग्रन्थोंमें आपश्री जोरशोरसे इस बातका उद्घोष करते हैं: "सात्त्विक भगवद्भक्तोंके लिए ही मैं निबंध लिख रहा हूँ. . . जीवका एकमात्र कर्म देवकीपुत्र भगवानकी सेवा ही है. . . ये ही महामोह और विडंबना है कि विद्वान और शास्त्राभ्यासपरायण कर्मिष्ठ होनेपर भी लोग कृष्णभजन नहीं करते. उन्हें भवबंधन ही प्राप्त होता है. . . ये कलिकालमें कर्म-ज्ञान-भक्तिके अधिकार ही लुप्त हो गए हैं. फिर भी भक्तिपूर्वक कृष्णसेवा करें तो कलियुग फलदायक है. . . शास्त्रोंके इस मतको न जानकर मतान्तरोंसे प्रभावित होकर सात्त्विक भी भगवत्सेवा नहीं करते इसलिए मैंने यह निबंध लिखनेका उद्यम शुरु किया है. . . जीव स्वभावतः भगवानका दास है. . . कृष्णसेवा सदा करनी यह मेरे सिद्धांतका विनिश्चय है. . . पुष्टिसृष्टि भगवत्सेवार्थ ही है, अन्य कोई प्रयोजनसे नहीं बनी है. . . लोकमें जैसे सेवक स्वामीको समर्पित होकर रहे वैसा व्यवहार प्रसिद्ध है, वैसे प्रभुको समर्पित होकर रहना. . . सर्वदा सर्वभावसे व्रजाधिप श्रीकृष्णका भजन करना यही स्वधर्म है, दूसरा कुछ भी कभी भी नहीं. . ."

शायद प्रभु हमारे स्वामी हैं ऐसा ज्ञान हो उसकी तुलनामें अपने आपको भगवत्सेवकतया निहारे या अनुभव करे वह एक भक्तिमार्गकि जीवनमें बड़ी सिद्धि है.

यह दृष्टि किन्तु सहसा प्राप्त नहीं होती. और फिर व्यक्तिका शुद्ध और सुखी होना उसमें बाधक ही होता है, साधक नहीं. श्रीआचार्यचरण इस लिए जीवके भगवत्सेवक होनेके भावका उद्बोधन ब्रह्मविद्याविशारदताके उपदेशरूप विवेकसे करते हैं.

विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थमें संक्षेपमें और अन्यत्र– निबंध, भाष्य, सुबोधिनीमें– आपश्रीने विस्तारसे समझाया है कि जगतमें जो कुछ होता है वह भगवदिच्छासे होता है ऐसी विवेकबुद्धि साधकके लिए आवश्यक है. यह जगत प्रभुने स्वक्रीडार्थ स्वभोगार्थ बनाया है. हम उसमें रही कोई वस्तुपर हमारा स्वामित्व है ऐसी भावना करें तो वह कुबुद्धि है. जब सारा जगत भगवत्क्रीडार्थ है तो हम भी भगवत्सेवार्थ बने हैं. वैचारिक स्तरपर यह भाव पनपाके व्यावहारिक स्तरपर कोई भी लौकिक या दिव्य वस्तुके लिए प्रभुसे प्रार्थना करनेकी मनोवृत्ति, अहंकार-अभिमान, हठवृत्ति और दुराग्रहोंकी मनोवृत्तियोंका

त्याग करना चाहिए. यह निभा तो हम जिज्ञासुभक्तसदृश उलझनमें पडे साधक नहीं हो जाएंगें.

'विदेशी हाथ' किंतु आध्यात्मिक 'विकास और उन्नतिमें बाधा डालनेके' काले कारनामे सतत करता रहता है. भगवत्सेवकको सुखी न रहने देनेके पीछे अनेक 'स्थापित हितोंकी साजिश और गठबंधन' होते हैं. उसका 'प्रतिकार' करनेकी किंतु श्रीआचार्यचरण आज्ञा नहीं देते, आपश्री धैर्यका उपदेश देते हैं.

भगवत्सेवकको धैर्य रखकर दुःख आ पड़े उन्हें सहने चाहिए. दुःखोंको अपना प्रारब्धभोग या भगवदिच्छा मानकर मनको विचलित या दुःखी नहीं होने देना चाहिए. जीव कितना, उसके प्रतिकारके प्रयास कितने, दुःख कितना और भगवदिच्छा कितनी! इसलिए आपश्रीद्वारा इस स्थलपर तथा श्रीहरिरायचरणद्वारा दसवें शिक्षापत्रमें प्रदर्शित भावनाएँ अपने देहादिमें तथा प्रभुमें करके भार्यादि सगेसंबंधी और दुर्जन तथा 'असामाजिक तत्त्वों'की महेरबानीसे आन पडते आधिभौतिक-आध्यात्मिक-आधिदैविक दुःखोंको मरते दम तक सहने; मरे कि जान छूटी! भगवदिच्छासे उसका प्रतिकार अनायास सिद्ध हो जाता हो तो सहन किए जानेका दुराग्रह भी न रखना. और फिर इन्द्रियोंकी विषयकी ओरकी दौड़को काया-वाणी-मनके निग्रहसे रोकनी चाहिए कि जिससे आनंददायक भगवत्सेवा छोड़कर नए दुःखकी गठरी न पकड़ लें और अंतमें प्रभुको जीवके लौकिक वैदिक विषयोंको छुड़ानेका परिश्रम और हमें वह अज्ञानजन्य दुःखको सहन करनेका परिश्रम न करना पड़े. यह निभे तो अपन आर्तभक्त नहीं हो जाएंगे; स्वयं प्रसन्नताको, स्वस्थताको प्राप्त कर सकेंगे और उसके द्वारा प्रभुको प्रसन्न कर सकेंगे. न निभे तो वह भी भगवदिच्छा मानकर भगवदाश्रयका भावन करना.

कभी कभी 'देसी हाथ' भी 'उन्नति और विकासमें बाधा डालता' है. अपन ऐसा अभिमान रखते हो कि मैं घरके सबको पोसता हूँ, मैं सब शिष्योंका उद्धार करता हूँ; और वे अपनी दयापर निभनेवाले ही कल जाके बहुत कमाने यों सिद्धांत पढनेके अभिमानकी असर तले हमारा अपमान कर दें, प्रश्न पूछ लें, उद्धताईसे बर्ताव करें! कभी हमें ऐहिक-पारलौकिक सिद्धिओंको या पदविओंको प्राप्त करनेकी प्रबल ईच्छा हो जाए, सन्मानपत्र पानेकी ईच्छा हो जाए; और मिले सिर्फ भक्तोंकी गालियाँ और अपमान! अपन दुःखार्त हो जाएँ और दुःख कैसे भी मिटता ही न हो. कभी अपन पाप कर बैठें, कोई भक्तका द्रोह कर बेठें. हमें भय लगता हो कि कोई जाहिरमें प्रश्न पूछ लेगा तो! भक्ति कैसे भी बढती ही न हो. यह सब अंतत. लौकिक मनोवृत्तियाँ हैं, अर्थार्थी होना है, सकामता

है. वे सब छूटें और मन भक्तिके लायक अलौकिक बन पाए उसके लिए सर्वथा मन-वाणी-कायासे हरिके शरण जानेका श्रीआचार्यचरण उपदेश देते हैं. आश्रय मनको शुद्ध सेवाके लायक बना देगा, पार लगा देगा.

उसके लिए किंतु अटल विश्वास चाहिए, किंकर्तव्यविमूढ होकर बकासुरके पास चक्कर काटनेसे या उसे किताब छपवाने हेतु पैसे-प्रोत्साहन-आशीर्वचन प्रदान करनेसे काम नहीं चलता. अन्य सर्व देव/असुर और उपाय तथा उसमें श्रद्धाका त्याग करके चातककी तरह एक केवल श्रीहरिका आश्रय करके हरि ही मुझे पार लगाएंगे ऐसा अनन्य विश्वास रखना चाहिए.

अंतमें जो कुछ जितने वोल्टेजका आचार्यत्व या अनुयायीत्व हमें प्राप्त हुआ है उससे संतोष मानकर अप्राप्त पदवियाँ या सिद्धिओं का मोह तथा प्राप्त अनुपयोगी द्रव्यादिकी ममता छोडकर भगवत्सेवापरायण होना चाहिए और भगवदाश्रयकी भावना करते करते जैसे बन पड़े वैसे स्तोत्र-काव्यादि रचना या सोमयागादि या संगठनादि यथायोग्य कार्य करते रहने चाहिए.

कृपा न हो तो भक्तिमार्ग दुर्लभ है ही, खास करके कलियुगमें. नसीब हो तो ,सोनेकी चार चूड़ियाँ भी मिलती है, मगर न हो तो एक भी नहीं मिलती. हम शुद्ध, सुखी और ब्रह्मविद्याविशारद होंगे तो प्रभुको भी सेवा लेनेकी ईच्छा होगी, और एकबार सेवा लेते हों तो भी अगर हम आर्त अर्थार्थी या जिज्ञासु ही रहें तो प्रभु भी ऊबकर सेवा छुडा देंगे. या चार चूड़ियाँ मिलेगी या एक भी पास नहीं रहेगी. लक्ष्य और प्रयास चारके लिए रखो, दोसे संतुष्ट होकर रुक न जाओ. इसलिए विवेक, धैर्य और आश्रय से विचलित न होकर भगवत्सेवक होनेका भाव बनाए रखना चाहिए.

आज कुछ नई पीढ़ीके लोगोंको जीवनभर भगवत्सेवाके अलावा कुछ नहीं करनेवाले बूढे निष्क्रिय, निकम्मे और पागल लगते हैं. उसके बजाए समाजको उन्होंने कुछ प्रदान किया होता तो अच्छा होता ऐसा वे मानते हैं. वैसे तो यह बूढे औसतन 'समाजरत्नों'से कम उपद्रवी, शांत और निरोगी तथा चिंतामुक्त जीवन जीनेवाले होते हैं; मगर यह उनका काला पहलू गिना जाता है, माईनस पोईन्ट गिना जाता है. वास्तविकता किंतु कुछ और ही है.

"आज ईश्वरभक्तिके नामपर अनेक धपले चलते हैं. इन्सान ईश्वरको प्राप्त करनेकी ईच्छा रखता है मगर खुदके कूट-कपटभरे जीवनव्यवहारमें जरासा भी फेरबदल करना नहीं चाहता. मध्यकालमें ईश्वरप्राप्तिके लिए लोग कडी तपश्चर्या करते, आज कोई ऐसा प्रयास नहीं करता. रोजाना जीवन

और धार्मिक मूल्यों के बीच हजार मीलकी दूरी है. इन्सानको भगवानकी भक्ति करनी है मगर उसके पीछेका हेतु भौतिक सुखसमृद्धि प्राप्त करनेका है. उसे तो भगवानकी मदद लेकर समृद्धिकी चोटीपर पहुँचना है! . . .

प्रवृत्तिका आधुनिक खयाल ऐसा है कि शक्तिका उपयोग करके कुछ बाह्य लक्ष्य सिद्ध करना; जब कि दूसरा खयाल, जो कि इसकी तुलनामें प्राचीन है उसमें मानवकी आंतरिक शक्तिपर ध्यान दिया जाता है; कोई बाह्य फेरबदल होते हैं या नहीं उसकी परवाह नहीं की जाती. . .

(बाह्य) प्रवृत्तिमें इन्सान स्वतंत्र नहीं है, वह किसीके निर्देशको अनुसरता है. कंई दफा तो किस हेतुसे खुद दौड़ रहा है उसका खयाल भी उसे नहीं होता. ईर्ष्या, महत्त्वाकांक्षा, लोभ —ये सब इसी प्रकारके आवेग हैं. .उदाहरणतया एक इन्सान असुरक्षा और अकेलेपनकी बजहसे रातदिन काममें लगा रहता है. या दूसरा इन्सान लोभवश धन इकट्ठा करनेके लिए या तो महत्त्वाकांक्षासे प्रेरित होकर कडा परिश्रम करता है. .उसमें इन्सान सक्रिय दिखता होनेपर भी हकीकतमें निष्क्रिय है. .जब कि इससे विपरीत प्रेम वह प्रवृत्ति है जिसमें इन्सान आंतरिक शक्तिको प्रयोगमें लाता है. यह शक्ति स्वतंत्र वातावरणमें प्रयुक्त की जा सकती है. उसमें धाकधमकी या जबरदस्ती की गुंजाइश नहीं है. . .

. . एक इन्सान घरके एक कोनेमें या पर्वतकी गुफामें शांतिसे बैठकर समाधि लगाता है. उसका हेतु ईश्वरप्राप्तिके अलावा और कुछ नहीं है. अब लौकिक दृष्टिसे यह इन्सान 'निष्क्रिय' गिना जाएगा क्योंकि वह कुछ 'करता' नहीं हैं. वास्तवमें समाधिकी प्रक्रिया जगतकी तमाम प्रवृत्तिओंमें सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि वह आत्माको परमात्माके साथ जोड़ती है."

(— 'प्रेमनी कला'में से साभार अनुवादित).

भगवत्सेवा बेशक सर्वश्रेष्ठ है. मजनू दुनियाके चश्मेसे निकम्मा आदमी ही नजर आएगा, उसे देखने प्रेमके चश्मे चाहिए, दृष्टि चाहिए.

मजनूको निकम्मा मानो या कामका, सक्रिय मानो या निष्क्रिय; एक बात पक्की है कि लैलाकी गलीमें कुत्तेकी तरह भूखे प्यासे घुमनेकी मजनूसी तैयारी हो तो ही प्यार करो. वरना बेकारमें 'प्रेमबंधनमें फँसके' पछताओगे. जीवन भगवत्सेवामय हो जाए उसकी तैयारी हो तो ही ब्रह्मसंबंध लेकर मार्गमें आओ. वरना आप भले ओर आपका कारोबार भला.

मुझे तो घरमें संतानोंकी देखभालके पीछे लगी रहती कोई माता निष्क्रिय नहीं लगती, भले ही आधुनिक ग्रेज्युअॅट नारीओंको लगती हो.

भगवत्सेवकत्व लालन-पालनके कालमें ही मिलना चाहिए, विवेकधैर्याश्रय तो व्यक्ति जब सयाना हो जाए तब जाके सिद्ध होता है. इसके लिए

बच्चोंकी परवरिश सेवामय माहोलमें हो यह अनिवार्य है. आज बच्चोंको माँ-बाप प्रसार माध्यम ओर पाठशालाओं के भरोसे छोडकर खुद संस्कार देनेके लिए 'सक्रिय' नहीं होते. परिणामतया छोटी उम्रमें ही विकृत भोक्ता होनेका भाव इतना प्रबल हो जाता है कि खुद किसीके भोग्य या दास या सेवक हो सकते हैं ऐसी उन्हें कल्पना भी नहीं होती. "दर्शकके हाथमें स्विच है; किसी भी पल वह ऑफ कर सकता है. पोप या कवि कुछ कह रहे हों और दर्शक ऊब जाए तो तत्क्षण उन्हें, स्वीच दबाकर, चुप कर सकता है, और फुटबोलका खेल देख सकता है. दर्शक खुद ज्यादा शक्तिमान है ऐसा अनुभव करता है." परिणामस्वरूप वे बच्चें भक्त या भगवत्सेवक तो क्या पर अच्छे सुपुत्र-सुपुत्री या अच्छे विद्यार्थी या जीवनसाथी या मित्र या माँ-बाप भी नहीं बन पाते हैं. माबापकी तरह वे भी स्वार्थमें और भोगविलासमें जुटे रहते हैं. श्रीआचार्यचरणकी यह वाणीसे उनका अंतःकरण प्रबुद्ध होने लायक नहीं रह जाता कि सयानी बेटीकी ममतावश हम उसका गौना न करें वैसे देहको सेवामें न लगाएँ तो स्वामी प्रसन्न नहीं होते. हरएक पुष्टिमार्गीको इस वाणीको सावधानीसे सुनकर उसे प्रयोगमें लानेके लिए भगवत्सेवापरायण होना चाहिए, ब्रह्मसंबंधदीक्षाको सार्थक करनी चाहिए.

रही बात झागकी और सामाजिक प्रदानकी. झाग तो भगवत्सेवा स्वयं समुंदरकी तरह प्रकट कर देगी. अखबारोंमें विवाद नहीं बढानेकी दोनों पक्षोंको जाहिर अपील करते रहनेसे कोई विवाद शमकर शांति और सद्भावना स्थापित नहीं हो जाते. धर्माचरणसे संतुष्ट, शुद्ध और सुखी हुए व्यक्तिमें स्वभाववशात् ही उत्तेजित होकर हिंसक बन जानेकी संभावनाएँ कम हो जाती है.

सामाजिक प्रदान भी विविध तरहसे हो सकता है, केवल कार्य द्वारा नहीं. कोई उपदेश द्वारा तो कोई अपने जीवनचरित्रों द्वारा समाजको प्रेरणादायक बनते हैं. तो कोई समाजको किसी तरहका नुकसान न पहुँचाकर भी समाजको सहाय कर सकता है.

भगवत्सेवाकी प्रतिज्ञारूप ब्रह्मसंबंधदीक्षा तो अनेक लेते हैं परंतु लेनेके साथ तदनुसार जीवन जीना भी शुरु कर देनेवाले तो हजारोंमें ८४ या २५२ ही होते हैं. श्रीआचार्यचरण तो सबको ब्रह्मसंबंध करवानेसे पहले पूछते कि ज्ञातिमें खानपान इत्यादि छोड़कर दास होकर रहना पडेगा; चलेगा? यदि चलेगा तो लो वरना चलते बनो. तुम भले और तुम्हारा समाज भला.

*

७. आचार

आज चारों ओर योगाभ्यासके चरचे है. रेडियो, टीवी., अखबार, आश्रम, होटलें, खिलाड़ीओंके प्रशिक्षणशिबिर —सर्वत्र आसनोंकी जानकारी दी जाती है, प्रशिक्षण दिया जाता है. डाक्टर योगासनोंसे केस सुधारनेके दावें करते हैं. कलाकार, खिलाड़ी और अंतरिक्षयात्री भी खुदको योगासनोंसे लाभ पानेकी घोषणा करते हैं. योगासनोंका शिक्षण योगी ही नहीं, सामान्य व्यक्ति भी देने लगे हैं. सामाजिक मंडल ओर क्लब इस विषयपर व्याख्यान, प्रदर्शनी या प्रशिक्षणशिबिरोंका आयोजन करते हैं. वक्ता ऋषिओंकी 'वैज्ञानिक दृष्टि' प्रति हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं कि शारीरिक स्वास्थ्य बनाए रखनेका कैसा प्रभावशाली, सरल और सस्ता उपाय उन्होंने दिखाया है. स्वामीजी हिमालय छोड़कर शहरी जनोंको पार लगाने के लिए यहाँ डेरा डालते हैं ओर कौनसे आसनसे कौनसी बिमारीमें राहत मिलती है इसे समझाते हैं.

पातंजलयोगशास्त्र परंतु कुछ और ही सोचता है. तदनुसार योगसाधना चित्तवृत्तिओंको एकाग्र करनेकी साधना है, शारीरिक स्वास्थ्य बनाए रखनेकी नहीं. उसमें पहले कदमपर यम = अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह और बाद में नियम = शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान आते हैं. इस तरहसे मन तथा देह की शुद्धि हो जाए बादमें आसन सिखाए जाते हैं जिससे कि आगेकी कक्षाओंके अनुकूल शारीरिक अनुशासन प्राप्त हो. उसके बाद सही जंग शुरु होती है. प्रथम प्राणायामद्वारा निरंकुशतया चलते श्वासोच्छ्वासको अपनी मरजीसे चलानेके प्रशिक्षणकी चुनौती आती है. उसमेंसे उत्तीर्ण होनेपर इतना मनोबल प्राप्त हो जाता है कि साधक प्रत्याहार कर सकता है, विषयोमेंसे मन और इन्द्रियों को लौटा सकता है. वह लौटे मनको एकाग्र करनेके लिए अब उसे धारणाकी कक्षामें आँखें बंध करके एक मानसमूर्तिकी रचना करने लगा दिया जाता है. ध्यानकी कक्षामें उस मानसमूर्तिका ध्यान करनेके लिए चित्तको प्रशिक्षित किया जाता है जिससे अंतमें समाधि– अखंड अविचल ध्यान– की चरम कक्षा तक पहुँचा जा सके. कहीं भी शारीरिक रोगोंको मिटानेके उपायका संकेत भी इन उपदेशोंमें नहीं मिलता; नथिंग ऑफिशियल अबाऊट इट.

साधनाको पूर्णतया न समझनेसे ऐसे गफले हो जाते हैं कि गौण बातें महत्त्वपूर्ण और महत्त्वकी बातें गौण लगती हैं. अन्जानेमें ही साधनाका

अनादर हो जाता है.

योगसाधनामें जो स्थान आसनका है वह अपने यहाँ आचार-अपरसका है.

"लौकिकमें हू पनारो है सो तासों न्हायो होई सो बचिके चले. तासों उत्तम जनकों सब प्रकारसों बचनो परे. जैसे उत्तम सामग्री है ताकों अनेक जतनसों बचावे तब श्रीठाकुरजीके भोग जोग रहे. तैसे ही वैष्णवधर्म है. तासों या धर्मकी रक्षा राखे तो रहै."

"सो फूल तो रक्षा बिना न रहे. तातें वेदोक्त कर्ममार्ग है सो भक्तिरूपी फूलनकों कांटेनकी वाड़ है. तातें कर्ममार्गकी वाड़ बिना भक्तिरूपी फूलको जतन न होय. तब जतन बिना फूल हू न रहे."

ऐसे आचार-अपरस योग या भक्तिकी साधनामें ही जरुरी है ऐसा नहीं है, टी.वी. देखनेमें या कारखानेमें गणवेशादिके रूपमें भी जरुरी है: "दर्शकोंको स्वयं कुछ खास मूवमेन्ट करनी नहीं पडती...खास वेशपरिधान भी करते नहीं. कभी कभी तो चड्डी पहनकर, नंगे ही, बाथरूममें से, बेडरूममें से टी.वी. देखते हैं...मौजमजाके डिब्बेनुमा बक्सोंसे यह प्रतिमाएँ (टी.वी.के स्क्रीनपर) प्रकट होती हैं. कुर्सीपर बैठे-बैठे, यार-दोस्तोंके साथ गपशप करते, दारु पीते, खाते, टेलिफोन पर बातें करते, और कभी प्यार करते करते दर्शक टी.वी. देखते हैं. उसमें फेलिनी कहते हैं— देयर इज नो रेस्पेक्ट."

बेशक आचार होना ही चाहिए; मगर उसका मूल्यांकन समूची साधनाके व्यापक परिप्रेक्ष्यमें करना चाहिए. अत्यादर भी अनादर जितना ही घातक है— "अति सर्वत्र वर्जयेत्." साधनाके फूलकी किमतपर आचारकी बाड़को बढ़ावा नहीं देना चाहिए.

आचार-अपरस मूलतया साधनामें संभावित विघ्न या प्रतिबंधोंकी निवृत्तिके लिए प्रयुक्त हुए हैं:

"तनने अने मनने कंई करवा तो जोईए. आचारनुं पालन करतो होय तेने तो पूरतुं काम मली रहे. परंतु आचारनुं पालन न करतो होय तो तेनी वृत्ति दुराचार तरफ (की ओर) जाय ज."

"...जो जप ऐसे करनों जो होठ रंचकहु खुले नहीं; या भांति भीतर अनुभव करतहीं जप करनो. और गौमुखीकी माला बहार काढनों नहीं... और जपमें बोलनो नाहीं; देह मनको चंचल न करनो. नेत्र मुंदे रहे, सो लौकिकमें दृष्टि न जाय. जपकी सेवाकी साधारण लौकिक क्रिया न जाने. जो लौकिक जाने तो वासों प्रभु जप न करावे ओर

प्रतिबंध होय. तातें सेवा जपको माहात्म्य भूले नाहीं. माहात्म्य भूले ओर याको साधारन जानें तब आलस्य होय, आलस्यतें अज्ञान होय, अज्ञानतें दुर्बुद्धि संसारासक्ति होय, संसारासक्तितें श्रीठाकुरजीतें बहिर्मुखता होय.''

बाड़ रहेगी तो फूलका माहात्म्य– सौंदर्य और सुरभि– बने रहेंगे, मनमर्कटसे आंच नहीं आएगी.

बाड़से अधिक परंतु आचार-अपरसकी कोई महत्ता नहीं है. यदि फूल न खिलाना हो तो बाड़ बांधनेकी कोई जरुरत नहीं है, कोई आवश्यकता नहीं है.

आज अपने यहाँ घरमें या मंदिरोंमें सेवार्थ सवेतन कर्मचारी रखे जाते हैं. होते हैं वे बेचारे नसीबके मारे देवीभक्त या शिवभक्त, और हम उनसे अपने आचार-अपरस पलवाते हैं जबरदस्ती ब्रह्मसंबंध दिवाके! यमनियमस्थानीय अन्याश्रयत्यागादि कुछ है कि नहीं अपने यहाँ? या सीधा योगाभ्यास शुरु? किसको पूछकर ऐसी अपरस पालते-पलवाते हैं? भेड़ियेको कुत्तेकी खाल पहना देनेसे क्या वह घरकी भेड़ोंका रक्षक हो जाएगा? फूलका नाश/हरण होनेके बाद ही क्या अपनी अक्कल ठिकाने आएगी?

आचार-अपरसके पीछे कोई दृष्टि हो तो वह यही फूलको उगानेसे पहले बाड़ बांध लेनेकी दीर्घदृष्टि. कहनेके लिए उसे भले कोई वैज्ञानिक दृष्टि कहे, मगर है असलमें निपुणता.

आजकल निठल्ले और विज्ञानके पीछे पागल बुझुर्ग वक्ता-लेखकोंकी एक अद्‌भुत फसल उगी है. कुछ सुस्त/सुषुप्त स्थूल-काय-बुद्धि अजगर अपने भक्ष्य कीटाणु समान मार्गके अनुयायिओंको बेवकूफ बनाना अपना वंशपरंपरागत एकाधिकार समझकर 'कीटाणुज्ञानविवेक' लिखने प्रवृत्त हुए हैं. वे सब 'गलत रास्तेपर चल रही युवापीढ़ीको सन्मार्गकी ओर मोडनेके उदात्त उद्देश्यसे' एक दूसरी 'वैज्ञानिक दृष्टि'के प्रति अपना ध्यान आकर्षित करते हैं:

''तिलक करनेसे मुख्य दो नाडियाँ, जो ललाटपर हैं, उसकी एक्युप्रेशर चिकित्सा होती है. कुंकुममेंकी हल्दीसे कफ, चूनेसे पित्त और चंदनसे वायु के प्रकोप निवृत्त होते हैं. तुलसी सर्वश्रेष्ठ कीटाणुनाशक है. तुलसीका पौधा हो वहाँ मच्छर नहीं आते. तुलसीके पत्तोंको ... करनेसे ... रोग मिट जाता है. एक तुलसीपत्र भोजनसामग्रीमें डालनेसे अन्नके जीवाणुजन्य विकार समाप्त होते हैं. ठाकुरजीके चरणोंमें समर्पित तुलसीदल यदि आँखोंकी पलकों पर लगाया जाए तो आँखोंकी ज्योतिमें वृद्धि व विकास होता है. तुलसीकी माला (कण्ठी) पहनकर जो मनुष्य (वैष्णव) स्नान करता

है उसको अक्सर चर्मरोगकी व्याधि नहीं होती. किसी मंत्रका जाप करते हुए यदि अपनी ऊँगलियों पर सूखी तुलसीकी डालीसे बने हुए मनकोंको घुमाया जाए तो उसके प्रभावसे चौबीस घण्टों तक हाथोंमें किसी भी प्रकारके कीटाणुओंका प्रभाव (इन्फेक्शन) किसी सीमा तक नहीं होता. चरणामृत लेनेसे कैलशियम तत्व आमाशयमें पहुँचते हैं. व्यायाम करनेसे इन्द्रियोंकी स्वच्छता और उनको कार्यशील बनानेमें अधिकतर लाभ प्राप्त होता है. इस लिए आवश्यक है कि प्रतिदिन दो घण्टे तो श्रीठाकुरजीकी सेवामें व्यतीत करना ही चाहिए. सच तो यह है कि श्रीठाकुरजीकी सेवा एवं स्मरण में व्यायाम अपने आप हो जाता है. रात्रिमें घरमें भोजन करनेके पश्चात् और सोनेसे पहले किसी धार्मिक ग्रन्थको पढ़ना अवश्य चाहिए, क्योंकि इससे सुखद नींद तो आती है, पर इसके अतिरिक्त मानसिक तनाव कम हो जाते हैं. दाहिने कान पर जनेऊ लपेटनेसे मूत्र एवं दोनों कानोंपर जनेऊ लपेटनेसे मल-मूत्र दोनों साफ होते हैं, क्योंकि कानकी नसका सम्बन्ध मस्तिष्कसे एवं मस्तिष्कका आँतों और गुर्दों से होता है. सुबहमें दूधगरका प्रसाद लेनेसे ... रोगमें राहत रहती है. शास्त्रोंमें स्त्रीओंको मासिकधर्म पालनेका लिखा है और उस दौरान खाद्यसामग्रीको स्पर्श न करनेका लिखा है, वह आज वैज्ञानिकोंने साबित किया है. अमेरिकामें दारु बनाती एक कंपनीका दारु रजस्वला स्त्रीओंके स्पर्शसे बिगड़ जाता था ऐसा एक संशोधनके अंतमें सिद्ध हुआ. . .'' !

एक दिन यह लोग कहने लगेंगे कि शास्त्रोंमें व्यभिचार न करनेका जो कहा है, सो वैज्ञानिकोंने सिद्ध किया है कि व्यभिचार करनेसे एइड्स नामका रोग होता है; इसलिए व्यभिचार न करना! कहाँ जाकर रुकेगा यह आचारका पोस्टमोर्टम! किस किसकी चीर-फाड़ नहीं करेगा!

और फिर यह कीटाणुज्ञानविवेक उनका खुदका मौलिक चिन्तन हो ऐसा वे नहीं मानते-मनवाते; वे तो दावा करते हैं– ''वास्तविकतामें यह सिद्धान्त मेरे अपने नहीं हैं क्योंकि न तो मैंने तुलसी बनाई है न उसके सिद्धान्त. यह तो श्रीमद्‌वल्लभाचार्यकृत तुलसीके वैज्ञानिक तत्त्वोंका तथा सिद्धान्तोंका सार है, और इसका आदर व सम्मान करना सभीका परम कर्तव्य है.''! मानों आधुनिक काँग्रेसी गुण्डोंको आश्रय देने तथा भ्रष्टाचार करनेके दुराचारोंको गांधीजीका मौलिक चिन्तन मानते-मनवाते हों!

मुस्लिम स्त्रीसंत राबियाके पास दो भूखे फकीर आए. उनके लिए उसने दो, समझ लो कि रोटियाँ बनाई. वहाँ एक भूखा कुत्ता आया. उसने दोनों रोटी उसे खिला दी. कुछ देर बाद एक दासी उसे देने रोटियाँ लेकर आई. उसने गिनी तो अठारह थी. राबियाने दासीको कहा—

या तो गलतीसे तू कम रोटियाँ लाई है या यह मुझे देनेके लिए नहीं हैं. दासी रोटियाँ वापस ले गई और कुछ देर बाद लौटी. अपनी भूल स्वीकार कर उसने बीस रोटियाँ राबियाको दी. फकीर कुछ समझे नहीं. राबियाने कहा— कुरानमें कहा है कि भूखे प्राणीको खिलानेवालेको खुदा दसगुना खाना देते हैं. इसलिए मैंने पहली बार दासीको वापस भेजी.

क्यों अपनेमें ऐसी अडग श्रद्धा पैदा नहीं होती? शास्त्रप्रवर्तित मार्ग पर चलनेमें विज्ञानकी बेसाखी क्यों साथमें रखनी पड़ती है? आचार्यवचनोंमें विश्वास नहीं है? विकलता और अस्वास्थ्य को भक्तकी प्रकृतितया सरहानेवाले श्रीआचार्यचरणको फिझियोथेरापिस्ट या वैद ठहराना उनका अनादर नहीं है? सेवारहित जीवनको व्यर्थ माननेवाले सेवाको निरोगी जीवन सिद्ध करनेका साधन मानेंगे? बेहोश हैं यह एक्सपोर्ट क्वॉलिटीके महाशय. लंगड़ा धर्म नहीं है, उनकी मार्गनिष्ठा ही लुढक रही है.

खुदकी अधकचरी श्रद्धाकी विरासत युवापीढ़ीको क्यों देनी चाहिए? युवापीढ़ीने क्या विज्ञानकी कंठी बांध रखी है कि उनका धर्मांतर करानेके लिए एसी बेबुनियाद बातोंके दौर चलाए जाते हैं? एक तो माईका लाल मुझे कोई दिखाए जो गेहुँके बजाए उसके विटामिनसे भरपूर छिलकोंको कोई प्रक्रिया किए बिना कच्चे ही खाता हो! किसीकी माँने सवासेर वैज्ञानिक सोंठ खाई नहीं हैं. कभी अखबारमें ऐसा विज्ञापन पढा कि, एन.आर.आइ. लड़केको भी, रोजाना ४०० कॅलॅरी आहारवाली और बी.आर.एच. पोझेटिव ब्लडग्रुपवाली कन्याकी अपेक्षा है?!

साधनामें श्रद्धासे प्रबल कोई सबूत नहीं होता है. वैज्ञानिक सबूतोंकी साधकको कोई जरुरत नहीं है. विज्ञानकी जरुरत लफड़ेवाले काममें पड़ती है:

"चिकित्साशास्त्रको विज्ञानका समर्थन प्राप्त नहीं है. विज्ञान और चिकित्साशास्त्रका संयोग और सदृशता दिखाने भरके हैं. चिकित्साशास्त्रज्ञोंको विज्ञानकी छत्रछायाके तले आश्रय लेनेमें अपना स्वार्थ समाया हुआ दिखता है. विज्ञान चिकित्साशास्त्रपर योग्यताकी मौहर लगाकर परोपकारवृत्तिका मोहरा/मुखवटा पहनाता है. मनुष्यजातको होती अवस्थासहज बिमारिओंमें चिकित्साशास्त्र कुछ भी करनेमें असमर्थ है इस हकीकतके सामने चिकित्साशास्त्रके विद्यार्थी, संशोधक ओर डोक्टर को विज्ञानका आसरा..आँख मूँदकर नतमस्तक रहनेकी छूट देता है.

साधन और दवाईओंके पीछे खुदकी अंधी दौड़की वजहसे डाक्टरोंका काम पुलिसके कारोबार जैसा हो गया है. कहीं भी बिमारीका एक चिह्न

भी दिखे तो डाक्टर उसे तुरंत ही पत्थर मारकर दबा देते हैं. . . हृष्टपुष्ट निरोगी आनंदपूर्वक जीवन जीनेवाला यकायक चिंतातुर मनसे बिलकुल थका-हारा रोगी बन जाता है, वजह? डाक्टरने उसका रक्तका दबाव नापकर घोषित किया कि रक्तका दबाव बढ़ गया है. चिकित्साशास्त्रने भले ही अब तक सचमुचमें कौनसे मानांकको हानिकारक रक्तदाब समझना वह तय ही न किया हो! . . चिकित्साशास्त्रका एक भी ऐसा पहलू नहीं है जहाँ ऐसी पुलिस-राजनीति अपनानेमें न आई हो और जिसकी वजहसे व्यक्तिको शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आर्थिक हानि न पहुँची हो. . .

उपरोक्त परिस्थिति पैदा होनेकी दूसरी भी एक वजह है. डाक्टर बारबार बड़ी बड़ी कॉन्फरन्स संमेलन कोंग्रेस वर्कशोप इत्यादिका आयोजन करते हैं. इसका हेतु बहोत स्पष्ट है— ऐसे मेलोंसे आम जनता, अन्य डाक्टर और खुदके अंतःकरणके समक्ष साबित करना कि चिकित्साशास्त्र दिनप्रतिदिन आगे बढ़ रहा है. ऐसे मेलोंमें कभी भी ऐसी चर्चा नहीं की जाती कि चिकित्साशास्त्रने कितनी गलतियाँ की हैं, या कोई भी लाभदायी संशोधन बीते सालमें नहीं हुआ है. नामांकित व्यक्ति ऐसे संमेलनका उद्घाटन करते हैं...उसमें भी यदि एक-दो डाक्टर विदेशसे आए तो प्रसार माध्यम उन्हें सरपर उठा लेते हैं. . . पैसा खर्च करो तो रोग गायब इस भ्रमका निरसन करनेकी ~~कोई तीसरी दुनियाकी हिंसा~~ में से साभार अनुवादित).

पेटकी खातिर ऐसे नाटक और छल कोई करे वह तो समझा जा सकता है, मगर साधनामें ऐसे नाटक करनेकी क्या जरूरत है? युवापीढ़ीको श्रद्धा होगी तो स्वतः साधनामें प्रवृत्त होगी. आखिर आचारको फूलकी बाड़की तरह निभाना चाहिए इसमें समझमें न आए या तर्कहीन हो ऐसी क्या बात है? युवापीढ़ी क्या युनिफोर्म– गणवेश–आफिसड्रेस नहीं पहनती? तो फिर माला-तिलक धारण क्यों नहीं करेंगी?

क्या श्रीगोकुलनाथजीने इसलिए जानकी बाजी लगाकर माला-तिलकका रक्षण किया कि उससे मच्छर दूर रहते हैं और एक्युप्रेशर चिकित्सा होती है? यह भी साला कोई माहात्म्य है? हकीकतमें आज जैसे काष्ठके बीबे (साँचे) तिलक करनेके लिए उपयोगमें लाए जाते हैं वैसे उस जमानेमें प्रचलित ही नहीं थे; कुंकुमकी रेखा हाथसे बनानी पड़ती थी. तभी तो श्रीगोकुलनाथजी दो खड़ी रेखाको जोडना भुल गए थे. प्रेशरका सवाल ही नहीं है. अक्सर वैज्ञानिक सबूत ऐसे अधकचरे होते हैं.

विज्ञान और साधना में मौलिक अंतर है. विज्ञान सतत विकासशील शास्त्र है, परिवर्तनशील है. कोई सत्य उसमें अंतिम नहीं होता. न्यूटन तब तक ही सच्चा था जब तक आईन्स्टाईनकी सापेक्षता थियरी साबित

नहीं हुई. डी.डी.टी. तब तक ही लाभदायी था कि जब तक उससे हुए विनाशकी सबको जानकारी नहीं थी. साधना कुल मिलाकर स्थायी स्वरूपकी होती है. क्या लाभदायी है साधनामें और क्या नहीं वह आचार्यवचनों और पुरोगामी साधकोंके अनुभवों से सुदृढतया निर्धारित होता है. विरोधी सबूत न मिले तब तक ही श्रीकृष्ण परब्रह्म है —ऐसा साधनामें नहीं चलता. आज इसे पति मानना बुद्धिगम्य लगे तो कल इसे नहीं और दूसरेको —ऐसी डावाँडोल मनःस्थिति हो तो लग्नसंस्था नहीं टिक सकती. धार्मिक अनुयायी श्रद्धाजीवी हो वह अनिवार्य है, बुद्धिजीवी हो या भले न भी हो.

ये तो अब कम हो गए वरना साठ और सत्तरके दशकमें तो ऐसे वक्ता-लेखक भी हुए थे जिनको श्रीआचार्यचरणके उपदेशोंमें साम्यवाद या जनतंत्र या गांधीवाद दिखता था, जो कि उन्हें कार्ल मार्क्सको साम्यवादका पिता न माननेको बाधित करता था! अभी तक किसीको ओपन मार्केट ईकोनोमी– मुक्त बाजारु अर्थतंत्र– नहीं दिखलाई दिया है. यद्यपि पुष्टिमार्गके नाम पर आज उसका व्यवहारमें प्रचलन है ही — जहाँ हाई वॉल्टेजके निधिस्वरूपका लॉ कॉस्ट प्रसाद मिलता हो वहाँ ज्यादा ग्राहक इकट्ठे होते हैं — और उसे भी साँचेसे होते तिलककी तरह पाँचसौ साल पुरानी परंपरा ठहरानेवाले तो अनेक हैं! चाहिए एक उत्साही महत्त्वाकांक्षी सामयिकका सम्पादक-प्रकाशक; मार्गनिष्ठा अधकचरी हो तो (ही!) चलेगा. खैर.

आचार-अपरसको योग्य परिप्रेक्ष्यमें समझकर उसका माहात्म्य जानकर आदरसे उसे पालने लगें तो अपनी संवेदना इस बाड़को भी बेली बना देगी, उसका बोझ नहीं लगने देगी:

"जो तुलसीजी है सो भगवद्प्रिया है, सो सहज बातसों तोडनो नहीं; प्रभुनके विनियोगार्थ तोडनो. . . सो जलंधरकी स्त्री वृंदा याको नाम है. सो विवाह प्रबोधिनीके दिन होय है. सो उत्सवमें और नित्य समर्पे. सो तुलसीजीकी मर्यादा जाननों. यह पुष्टिभक्त हैं. . . और तुलसीजीकी माला है सो वैष्णवकों पहरिवेकी योग्यता है. तथा जपहू तुलसीजीकी मालासों होय. सो तासों तुलसीजी प्रभुनकों अत्यंत प्रिय है. तुलसीजी लेनी, सो पहिले सुंघिके लेनी; सुंघे बिना न लेनी. तुलसीजीके आगे दीवा करनो, चौक पूरनो, पूजा करनी, प्रदक्षिना करनी. और तुलसीजी अपने घरमें राखनी. तुलसीक्यारी घरमें न होय तो नांदमें तुलसीजी बोवनी. और जल सींचनो. . . और तुलसीजीको माहात्म्य चारो सम्प्रदायमें है . . . सो तुलसीजी वैष्णवनके घरमें

अवश्य चहिए. . . जो तुम हो सो तहां श्रीठाकुरजी अवश्य होंयगे. सो ताहीसों श्रीआचार्यजी महाप्रभु आप तुलसीजीद्वारा जीवनकों अंगीकार कियो है. सो चरनकमल अत्यन्त प्रिय है तासों चरनारविंदमें समर्पे हैं. सो चरनारविंदमें समर्पती बिरियां गद्यको पाठ करिके समर्पनी. सो तीन पत्ताको दल चरनारविंदमें समर्पनो, और एक एक पत्ता सर्व सामग्रीमें समर्पनो. सो तहां पंचाक्षर कहत पधरावनी."

दुकानदार 'दुकान बंद की' के बजाए 'दुकान बढ़ाई' कहे तो उसमें उसे जोर नहीं पड़ता, दुकानके प्रति आदर और संवेदना हो तो यह सहज शक्य है. न हो तो आधुनिक स्त्रीओंको आधा घंटा मेक-अप करनेमें जोर नहीं पड़ता, मगर सिंदूरसे मांग भरने और मंगलसूत्र पहनने में तकलीफ होती है. कौन कितना आचार निभा सके यह तो व्यक्तिगत विषय है, उसमें दादागिरीको अवकाश नहीं है. मगर भगवानने बुद्धि और सामर्थ्य दिए हैं तो यथाशक्ति फूलको बाड द्वारा जतनसे बनाए रखनेमें प्रमाद नहीं करना चाहिए.

आचारमें मन, वाणी और क्रिया तीनोंका समावेश कर लिया जाता है, केवल क्रियाका नहीं. तीनोंपर समान जोर देना आवश्यक है; परिपूर्णता तभी आएगी जब यह एकसूत्रता सध जाए. भोग धरते हों, अरोगनेकी बिनती करें और चित्तकी तन्मयतासे उत्साहसे वैसा करें तब तो सचमुच फूल खिलेगा. उसमें न मन बाधा करेगा न वाणी न तन; सब साधक ही बन जाएँगे. नववधूके पास ससुरालमें इसके अलावा पतिको प्रसन्न करनेके लिए और तो होता ही क्या है! जीवकी बिदा करते समय भक्त्याचारोपदेष्टा श्रीआचार्यचरण भी इस बारेमें सलाहके अलावा और क्या दे सकते हैं!

*

८. व्रजयात्रा — बैठकयात्रा

रूसी डाक्टर कहते हैं कि यदि निरोगी रहना है तो भूख लगे उससे थोड़ा कम खाओ. बची हुई भूख पाचनरसोंको उद्दीप्त करेगी. कम खानेमें थोड़ी भूख बच जाए उसके अलावा कोई पीड़ा नहीं हैं, मगर ज्यादा खानेसे अनेक रोग हो सकते हैं.

बात खानेकी हो या चाहनेकी, हरएक व्यक्तिकी अपनी एक मर्यादा होती है, क्षमता होती है. वह आदमी-आदमीकी ही भिन्न नहीं होती, एक ही व्यक्तिकी क्षमता भी उम्र या ऋतु या संजोगानुसार बदलती रहती है. अनुपातका भान रखना इसीलिए खानेकी तरह चाहनेमें भी आवश्यक है.

मगर जमाना रेकोर्डस्का है, विक्रमोंका है. चारों ओर गिनीस बुक ऑफ वर्ल्ड रेकोर्डस्की लहर है. हर हजारमेंसे एक इन्सानको उसमें अपना नाम अंकित करनेकी महेच्छा होती है. उसके लिए साहस करे तब तक तो ठीक है मगर अस्वाभाविक विचित्र काम भी लोग करते हैं. कोई अठारह फूट लंबी मूछें उगाता है तो कोई पांच मिनटमें ७२ इडली खाता है, कोई उलटे पाँव ५०० मील दौडता है तो कोई २२ ट्यूबलाईट खा जाता है, कोई तीन दिन झहरीले साँपके बीच ही गुजारता है. ओस्ट्रेलियामें एक दंपतिने ३६ घंटे लंबा चुंबन किया! कालिदास सुने तो उनका दिल धडकना बंद हो जाए! अच्छे अच्छे प्रेमविवाह करके प्रसन्न दाम्पत्यका मज़ा लेनेवालोंको पूछें तो उनके एक सालके चुंबनोंको मिलानेपर भी ३६ घंटे नहीं होते होंगे!

विक्रमोंका यह भूत धर्मधुरंधरो पर भी सवार हुआ है. धार्मिक आयोजनोंमें अंकोकी मायाज़ाल बढती ही जाती है. सप्ताह, अठ्ठाई, नवाह्न पारायण, ८+३+९+९+९+९+९ = ५६भोग, १०८/सहस्र/१००८ पाठ/लोटी/कुंडी यज्ञ, सवा लाख जाप, अखंडनामकीर्तन — चारों ओर संख्याएँ ही गूंजती रहती है. सब संप्रदाय इस अंधी दौड़में जुटे हैं. गुजरातमें तो एक संप्रदायवाले अपने हरएक आयोजनके अंतमें हिसाब देते हैं— इतने लोग देखने आए, इतनोंने धार्मिक जीवन जीनेका संकल्प किया, इतनोंने बीड़ी छोड़नेकी प्रतिज्ञा ली, इतनोंने दारु छोड़नेकी. . . अखबारमें व्यापक प्रसिद्धि मिले और दुनियामें नाम हो जाए.

एक तो आज सुविधाएँ बढ गई और दूसरा प्रसार माध्यम. न अस्वाभाविक काम करनेमें ज्यादा जोर लगाना पड़ता है न उसे प्रसिद्धि देनेमें. फिर विवेकबुद्धिकी लगाम कहाँ तक रहे? दुनियामें पैसेमैले प्रसिद्धिघेले

मनोरथिओंकी कहाँ कमी है? आयोजक मिला नहीं उतनी सी देर है.

परेशानी खाद्यसामग्री जुटानेमें या छोंककी खुशबू फैलानेमें नहीं होती, परेशानी हजम करनेमें होती है, खाते वख्त और खा लेनेके बाद होती है.

यात्राओंमें कुछ ऐसी ही परिस्थिति खड़ी होती है. हृदयमें रहे हुए आदरभाव और संवेदना का किसीका दो बैठकोमें या दो मुकामोमें तो किसीका चारमें बाष्पीभवन हो जाता है. फिर तो किसीको घर याद आने लगता है, किसीको सुविधाएँ. किसीको पहली बैठकसे तीसरी बैठककी व्यवस्थामें कमी नजर आती है तो किसीको कलके बजाए आजका मुकाम लंबा लगता है. किसीको सत्संग-प्रवचनकी कमी लगती है तो किसीको रासमंडलीकी. किसीको घर पत्र लिखनेकी आतुरता होती है तो किसीको घर पहुँचनेकी. किसीको सरदर्द होने लगता है तो कोई सर कूटता है. कोई परिचय-संपर्क बढानेमें लग जाता है तो कोई झगड़नेमें. आज यात्राओंमें बेन्क, पोस्टओफिस, होस्पिटल, डीझल जनरेटर, मोटरकार, रेडियो, फोल्डिंग खाटें, तरह तरहकी खाद्यसामग्रीओंके खुमचे . . . सब साथ चलता है, बिना अंकके शून्योंकी कतारकी तरह. सरकार तीर्थयात्राको सहेलगाह घोषित करके कर बटोरें उतनी औपचारिकता ही बाकी रही है.

घर लौटकर इन्हीं कटु यादोंकी गठरी जीवनभर साथ लिए लोग फिरते हैं. दुबारा जानेकी ईच्छा ही मर जाती है— "वहाँ तो ऐसी व्यवस्था और ऐसे लोग और ऐसी गरमी . . ."

जानेवाले परेशान हो सो तो हो, वहाँ रहेनेवाले ओर परेशान हो जाए. सब जगह गंदगी हो जाए, अछत हो जाए, महेंगाई हो जाए. बैठकोंमें झारी और मिसरी धरने-सरानेकी ऐसी होंसातोंसी चले कि श्रीआचार्यचरणका नाम उसके लिए गिनीस बुकमें आ जाए! एक दिनमें भला इतना जल-मिसरी तो कोई अरोग सके? वह भी इतना जल्दी; नहीं तो सरा लिया जाए!

छोटे अरसेमें अपना और श्रीआचार्यचरणका स्वास्थ्य बिगडे तथा लंबे अरसेमें व्रज-व्रजवासी-व्रजाधिप एवं पुष्टिमार्ग-पुष्टिमार्गी-श्रीआचार्यचरण बदनाम हो. आयोजक आयोजन और व्यवस्थामें ही मसरुफ रहे, और यात्रा खतम होने तकमें तौबा करके आयोजनका अ भूल जाए. लाभ किसको?

"भाव उडी गयो पछी क्रियामात्र भवाई (नौटंकी) छे. भवाईमां नवे रसो छे छतां ते भवाई छे. क्रिया पण बधी होय छतां (फिर भी) भाव वगर (बगैर) भवाई थई पडे छे."

"सो वैष्णव तापीपुरके, गुजरातके तथा दक्षिनके श्रीगोकुलमें श्रीगुसांईजीके

दरसनकों आवत हते. सो उज्जैनिमें कृष्णभटके घर उतरते . . . और जब वैष्णव कृष्णभटसों विदा होते तब कृष्णभट उन वैष्णवनसों कहते जो तुम सब श्रीगोकुल जाईकै कछूक कमाई आईयो. ऐसो जाईकै मति करियो जामें कछू गांठिकौ खोई आओ.

भावप्रकाश— ताकौ अभिप्राय यह जो श्रीठाकुरजीके दरसन करो तो हृदयमें राखियो. और जो कोउ श्रीगोकुलमें रहत हैं, तिनकौ दोष हृदयमें मति धरियो. यह कमाईवे खोईवेकौ कहे.''

साधनामें विक्रमोंका कोई मूल्य नहीं हैं. भाव बना रहे और बढे उस तरहसे एक कोस यात्रा या एक बेठक की तो भी बहोत मूल्यवान है, और भावकी मटिया मेट हो जाए उस तरहसे चोरासी कोस यात्रा या चोरासी बेठक की तो भी भवचोरासी नहीं टलेगी. महत्त्व स्वाभाविकतया सदाके लिए थोडे-बहोत सुधर जानेका है, कृत्रिम तौरपर चौबीस घंटे या ७ या ९ या ४० दिनके लिए सुधर जानेका नहीं. हाजमा बढ़ानेसे स्वस्थता बढ़ेगी, खुराक बढ़ानेसे नहीं.

''सो नारायनदास हाकिम होय काम करन लाग्यो. सो काम बहोत, छूटि सके नाहीं. श्रीगोकुल आयवेको मन बहोत, श्रीआचार्यजीके दरसनको मन बहोत. तब नारायनदासने एक मनुष्य चाकर राख्यो. . . सो वह चाकर नारायनदासके संग रहे. घरी घरीमें यह कहै, भैयाजी! श्रीगोकुल श्रीआचार्यजीके दरसनकों कब चलोगे? तब नारायनदास कहते– हां, अब चलूंगो. नेननमें जल भरि लीला-रसमें मगन होय जाते. फेरि कामकाज करते. फेरि चाकर कहतो, फेरि मगन होय जाते. . . सो जन्म भरि या प्रकार श्रीगोकुलको स्मरण करि श्रीआचार्यजीमें मन लगाय मगन रहे.''

कवि सुन्दरम् कहते हैं— ''दुनियाकी सभी सुंदर चीजोंको मैं चाहुगा, और जो सुंदर नहीं हैं उन्हें चाह-चाहकर सुंदर कर दूंगा.'' व्रज और बेठक रमणीय हैं ही, सुंदर हैं ही. यह कुबूल कि सब जगह सब सुविधा नहीं हैं, मगर यह मामूली असुंदरताको चाहतद्वारा ही सुंदर बनानी चाहिए, सुविधा प्रदान करके या प्राप्त करके नहीं. असुविधाकी वजहसे नापसंद करेंगे तो ऐसी कन्या दूसरी ढूंढनेपर भी नहीं मिलेगी, और सुविधाओंको जबरदस्ती उन पर ठोस देंगे तो सुविधाके नकाबतले उनका स्वाभाविक सौंदर्य आँखोंसे ओझल हो जाएगा, चम्पारण्यकी तरह. चाहनेके अलावा कोई चारा नहीं है.

चाहना रहेगी तो दूर रहो फिर भी हरकत नहीं हैं. सुविधा ही रहेगी तो पास रहकर भी मज़ा नहीं आएगी. एक हजार आदमी घंटेभरमें

स्नान कर सके वैसी सुविधावाला स्थल कभी शांत और सुखद कुंज रहे जाएगा क्या? इसलिए दुर्घटना रोको, उचित दूरी निभाओ, अनुपातका होश रखो. सेवास्थली घरमें भी मन न लगा और लीलास्थली व्रजमें भी न लगा तो कहींकि नहीं रह जाओगे, भटकते रह जाओगे. पढनेमें आया है कि अब और एक प्राकट्य बैठकजीके सौन्दर्यको जीर्णप्राय कर देनेकी करोड़ रुपयेकी लागतवाली योजनाकी घोषणा कर दी गई है. श्रीगुसांईजी बचाएं ऐसे योजनाकारोंसे सम्प्रदायको.

बड़ोंकी उतनी भूख थी कि एक यात्रा करके भी उन्हें तृप्ति नहीं होती थी. कोई सालोंसाल यात्रा करते. उनकी जीवनचर्या ही उतनी सादी, सरल और असुविधासभर थी कि यात्रा और घरमें ज्यादा फर्क नहीं था; चलनेका रहता ही. अपन छोटे उनके साथ जाना चाहेंगें तो मरें न सही, बीमार तो जरुर हो जाएँगे. बड़ोंका अनुसरण करना होता है, अनुकरण नहीं.

अच्छा-बुरा खुराक नहीं होता, अपना हाजमा होता है. घी सबके लिए अच्छा होता है सामान्यतया, मगर सुविधाका कोलेस्टेरोल ज्यादा हो उसको नहीं लेना चाहिए. गुन्हा घीका नहीं है, व्रज या बैठकोंका नहीं है.

चुंबनको प्रेमकी अभिव्यक्तिका आदरणीय माध्यम बनाना या नौटंकी यह तो करनेवालेके हाथमें है. यात्राओंका भी ऐसा ही है. *''. . जैसे योगीजनके हाथमें पारद सावधानतासों रहे तो कल्पतरु समान फल देय और सावधान न होय तो हस्तसों निकसी जाय और फलहू नांही देय.''*

*

९. सार्वजनिक मनोरथ

एक मक्खनके विज्ञापनमें कहा जाता है— इसे रोटी, भाखरी, पूरी, ईडली, ढोसा, समोसा..जिस किसीके साथ खाओ, यह लिज्जत देगा. बिस्कीटके विज्ञापनमें वह आबालवृद्ध सबको प्रिय है वैसा दिखाया जाता है. साबुनके विज्ञापनमें प्रांत प्रांतकी गृहिणीओंको उसका इस्तमाल करती दिखाई जाती हैं. कोफीके विज्ञापनमें उसे देशविदेशमें लोकप्रिय बताया जाता है.

दूसरी ओर टूथपेस्टवाले टूथपावडरकी निंदा करते हैं तो साबुनवाले नीलकी, आयुर्वेदिकवाले अकुदरती सौंदर्यप्रसाधनोंकी तो मिनरल वॉटरवाले सादे पानीकी.

तीसरी ओर हरेक उत्पादक समूची प्रोडक्ट रेन्ज विकसित करता है: हरेक साबुनकी कंपनी किफायती-महेंगे छोटे-बडे नहाने-धोनेके अनेक ब्रान्डके साबुन बनाती है, टूथब्रश-गाडी-स्कूटर-फ्रीज आदि छोटी-बड़ी साईझमें मिलते हैं. सनमाईका या पेईन्ट अनेक रंगों ओर डिझाईनोमें मिलते हैं.

अधिकारीभेदका लोप, फलमें भेदका सर्जन ओर अविवशतया यों नहीं तों यों दोनोंका अस्वीकार —इस असमञ्जसताका ही दूसरा नाम मार्केटिंग स्ट्रेटेजी– विक्रयनीति– है. चीजको सबको आकर्पित करें उस तरहसे प्रस्तुत करके बाजार खडा करना कि जिससे सद्धरता आए, इस स्थापित बाजारको बनाए रखनेके लिए ग्राहकोंको दूसरी चीजोंमें क्षति दिखाके छटकने न देना, ओर इस्तमाल कर करके ग्राहक ऊब न जाए उस हेतुसे नई बॉटलमें पुरानी शराब परोसते रहनेका सिलसिला चालू रखना.

सार्वजनिक मनोरथ ऐसे ही मायाजाल हैं. अखबार-परिपत्रों द्वारा हर कोईको उसका लाभ लेनेको लालायित किया जाता है, उसे अलभ्य आधिदैविक लाभ देनेवाला ओर 'पहली ही बार आयोजित' घोपित किया जाता है. आखिर रोज रोज होने लगे तब उसमें विविधता लाने, नोवेल्टी लाने नए नए मनोरथका आविष्कार किया जाता है.

आज पुष्टिमार्गके नामपर होते मनोरथोंकी पूरी कतार– रेन्ज ऑफ प्रोडक्ट– खडी हो गई है: सेवासंबंधी हिंडोला-पलना-फूलमंडली-दान-खेल-छप्पनभोग, कथासंबंधी नंदोत्सव-रुक्मिणीविवाह-रासलीला-माखनचोरी, व्रज या बैठकयात्रासंबंधी कुनवारो-तपेली, श्रीयमुनाजीसंबंधी लोटी-चुनरी उत्सव या यमुनायाग, आचार्यसंबंधी सर्वोत्तमयाग या फोल्डींग थर्मोकोल ८४ बैठक प्रदर्शनी या फिर चरित्रसप्ताहके अंगतया विवाहादिके मनोरथ, उसके अलावा ढाढीलीला-रास-ध्वजाजी तो अत्याधुनिक सोमयाग-पुरुपोत्तमयाग . . . कोई ऐसा वैसा मायाजाल नहीं है.

भले ही उसकी रौशनीमें वास्तविकता धुंधली हो जाए, वह कायम तो रहती ही है.

सृष्टिमें भेद ही प्रकट हुए हैं, इसलिए अधिकारीभेदका इन्कार शक्य ही नहीं है. कैसी लड़कीको खुद ब्याहना पसंद करता है उस बारेमें हरेक लड़केके अभिप्राय अपने अपने अलग होंगे, भले ही वे एक घर-समाज-प्रांत-धर्म-भाषा-संस्कृति तले क्यों न बड़े हुए हो. हरेककी अपनी अनोखी रुचि होती है. किसीकी कल्पनाका घर छोटा होता है तो किसीका बड़ा, किसीका सादा तो किसीका भव्य, किसीका शांत तो किसीका प्रवृत्तिसभर, किसीका विभक्त परिवारवाला तो किसीका संयुक्त, किसीका नदीके किनारे तो किसीका सागरके किनारे, किसीका पर्वतकी चोटीपर तो किसीका स्टेशनसे पास मौकेके स्थानपर.

फलमें परंतु भेद नहीं होता. प्रसन्न दाम्पत्यका आनंद दोनों रूपवान-गुणवान-विद्यावान हो तो ही मिले ऐसा नहीं है, प्रायः अपंग पतिपत्नीका सहाय, सहानुभूति और समझ के सक्षम बलबूतेपर बना दाम्पत्यजीवन ज्यादा टिकाउ ओर आह्लादक होता है. तैरनेमें भी मज़ा आता हे और हलेसेवाली नावमें भी मज़ा आता हे. घुड़सवारी या सायकलसवारीमें भी मज़ा आता है ओर विमानमें भी मज़ा आता है. कोई मसालेवाली चाय पीता है तो कोई कड़क गरम कोफी पीता है. कोई जल्दी सोकर जल्दी उठता है तो कोई देरसे सोकर देरीसे.

भारतीय साधनाप्रणालियाँ, खास करके भक्तिमार्गी, इस रुचिभेदको रोंद या विगो नहीं डालती, उसका आदरसे स्वीकार करती है. जरुरत रेन्ज ऑफ प्रोडक्टकी नहीं है, हरेककी साधनामें कर्म-ज्ञान-भक्तिकी खीचडीकी भी नहीं है, जरुरत साधनाके नियमोंको ऐसे लचीले रखनेकी है कि व्यक्ति उसकी रुचिकी दिशामें विकास साध कर सके.

रेन्ज ऑफ प्रोडक्टमें लंबे अरसेमें स्पेशियलाईझेशन हो जाता है; कोई सिर्फ दाएं कानका स्पेशियलीस्ट डाक्टर हो जाता है तो कोई बाएं कानका. कोई निरा कीर्तनिया हो जाता हे तो कोई निरा मनोरथी.

जबरदस्ती रातदिन खीचड़ी खाने-खिलानेसे व्यक्तिकी रुचि भी हिंदी फिल्मोंके सगीतप्रेमीओं जैसी खीचड़ीके जैसी हो जाती है, भारतीय या पाश्चात्य या लोकसंगीतका अनोखा स्वाद न अनुभवमें आता है न ही भाता है. एक साधनाको एक जीवनमें न्याय दे पाना भी मुश्किल है तब तीनोंको कैसे दिया जाए?

सच्ची साधना तो वह कि जिसमें भिन्न भिन्न रुचिके अनुरूप दस तत्त्व हो ओर उनमेंके एक, दो या पांचको उत्साहसे करनेवाला साधक भी

उन एक-दो-पांच तत्त्वोंका अनोखा आनंद और साथ ही साथ दसों तत्त्वोंको धारण करनेवाली साधनाका खुदका आनंद —दोनोंका मज़ा ले सके, न अपनी रुचि छूट जाए न साधना. न रुचिको संतुष्ट करनेके लिए इस संप्रदायसे उस संप्रदायमें भटकना पडे न ही साधनाकी खातिर रुचिको मारनी पडे. पर्यावरण बिगडे नहीं और विकास तय हो. रुचि स्वयं साधनाके प्रति, साध्यके प्रति संवेदना और आदर जगाए. न रुचिको दुन्यवी पदार्थोंसे संतुष्ट कर लेनेकी आदत पड जाए न साधनाको शुष्क मनसे.

यहाँ आकर कला और साधना अलग हो जाते हैं. कला रुचिको उसकी ही दिशामें विकसित करती है, संस्कारित करती है, परिमार्जित करती है. साधना उस रुचिका विनियोग अपने पथपर आगे बढ़नेके लिए करती है.

जाहिर मनोरथोंके दावेदार आयोजक और वकील आज इस विभाजकरेखा और उसके द्वारा भजनानंदको रोंद डालनेकी साजिश कर रहे हैं.

श्रीमती कीर्तिदा गोहिल ता. २२-१-९३के 'प्रवासी जन्मभूमि' अखबारमें लिखते हैं—

"हरेक प्रकारकी कलाका विकास तो बहोत ही हो रहा है, परंतु पहले निजी तौरपर लोग उसमें हिस्सा लेते उसके बजाए अब बडे पैमानेपर लोग सिर्फ निरीक्षक ही बने रहते हैं. कला अर्थात् अपनी अनोखी सूझबूझ तथा जानकारीको विविध माध्यमोंद्वारा बाहर उभारनेकी, प्रदर्शित करनेकी पद्धति. उससे व्यक्तिगत तरहसे संतोष प्राप्त हो और संवेदनशीलता बढे. सामाजिक स्तरपर लोग एकदूसरेके साथ अच्छी तरह मिलें जुलें, विचारोंकी लेन-देन हो, जीवनमें प्रगति हो, जीवन जीनेका आनंद मिले. जैसे स्त्रियाँ घरकी चार दीवारोंको छोडकर बाहर निकल गई, वैसे कला भी घरमेंसे निकलकर फैल गई है. परंतु फिरभी हरेक व्यक्तिको कुछ किएका संतोष और उसके द्वारा आनंदका मज़ा लेनेकी जो प्रथा थी वह धीरेधीरे नष्ट हो जानेसे मनुष्य रूखा-सूखा और संवेदनाहीन बनता जाता है. सब कुछ तैयार मिलता है. त्योहारोंका महत्त्व कम हो गया, इसलिए व्यक्तिगत कलाकी अभिव्यक्ति न रही. विशालता प्राप्त करने पर भी व्यक्तिके जीवनमें कला मानों सिकुड गई हो." (अनुवादित).

सेवामें ऋतु अनुसार कीर्तन, वस्त्र, भोगसामग्री, शृंगार, अत्तर धरानेका, नित्यका और उत्सवका क्रम निर्धारित करनेके पीछे प्रभुचरण श्रीगुसांईजीकी जो निपुणता है उसे समझने-समझानेकी परवाह किए बिना लोग सार्वजनिक मनोरथोंका इल्ज़ाम और कलाको उत्तेजन देनेका श्रेय आपश्रीको देते हैं वह सरासर अन्याय है. श्रीगुसांईजीने कला या रुचि को नहीं मगर उनके भगवत्सेवामें

विनियोगको उत्तेजन दिया है. वरना तो तानसेनको गानेके बदलेमें कौडी देते क्या? कलादृष्टिसे भला तानसेनके और गोविन्दस्वामीके गानेमें क्या फर्क हो सकता है? फर्क साधनाकी दृष्टिसे है, श्रीगुसांईजीकी राजहंसको ही जचे वैसी नीरक्षीरविवेकदृष्टिसे है. कलाओंकी विरासत पुष्टिमार्गमें बनी रही है यह एक योगानुयोग है, प्रतिभासंपन्न कलाकार अनुयायिओंकी फसल उतरनेका सुखद परिणाम है; साधनाकी विरासत बनी रही और रहेगी वह श्रीगुसांईजी द्वारा निर्धारित नियति है. आपश्री बेशक अव्वल दरज्जेके कलापरीक्षक और स्वयं कसबी हैं, परंतु उससे अधिक एक संप्रदायके प्रवर्तक ओर निर्वाहक हैं. कृष्णदास अधिकारीने वेश्याकी लड़कीका श्रीनाथजीके सन्मुख नृत्य करवाया सो वेश्याओंके नाचगानको उत्तेजन देनेके लिए नहीं, मगर नाचगानेकी कलाका भगवत्सेवामें विनियोग हो और कलाकार दैवी जीवको भगवद्प्राप्ति हो इसके लिए.

हरेक पुष्टिमार्गी अपने आपसे पूछे. उसका अनुभव गवाही देगा कि सार्वजनिक मनोरथोंसे निरे निरीक्षक बने रहनेकी नियति ही तय होती है. जीवनमेंसे कला, रुचि और सेवा —तीनों धीरे धीरे भाप बनकर विलीन हो जाते हैं. नौटंकी होती रहती है, नव रसोंका प्रदर्शन होता रहता है; मगर भाव उडता ही जाता है, आदर और संवेदना लुप्त होते ही जाते हैं. न अपनी रुचिको समझने-परखनेका समय या होश मिलता है न कीर्तन-सामग्री-शृंगारकी प्रणालीको. आचार्यचरणोंकी निपुणताका मूल्यांकन करने-बिरदानेकी तो बात ही क्या करनी?

आज दर्शनार्थीयोंमेंसे कीर्तन-सामग्री-शृंगारको पहचान पाए वैसे कितने, जानकार कितने? उनमेंसे दर्शन कर-करके सीखे हुए कितने और स्वयं करके सीखे हुए कितने? उनमेंसे व्यावसायिक कितने और धर्मादा करनेवाले कितने? उनमेंसे रुचिसे करनेवाले कितने, चाल चलने करनेवाले कितने और बेगारकी तरह करनेवाले कितने? उनमेंसे आजीवन हररोज करनेवाले कितने? वे ही तो सिर्फ उत्तीर्ण हुए न? ऐसी कैसी शाला! ऐसा कैसा उद्धार!

मनोरथ सेवाका ही एक अंग हैं. सेवाकी भांति उन्हें भी एकांतमें निजी स्तरपर करने होते हैं. सेवाकी बलि चढाके या रुचिकी किमतपर उन्हें आदर या उत्तेजन नहीं देना चाहिए. नमकीन भोजनमें वैविध्य लाने तक चल सकता है, रातदिन उसपर ही रहें तो बिमार हो जाएँ. टी.वी.की भांति मनोरथोंकी बाढ कला, रुचि, श्रद्धा, निष्ठा, आश्रय. आदर, संवेदना —सबका नाश ही करती है, प्रत्येकको छोटे टुकडेमें तोडके सदाके लिए खतम कर देती है. श्रीगुसांईजी बचाएं इन मार्केटिंगके कीमियागरोंसे.

*

१०. गुरु

सचमुच सत्पुरुष अहंकारविमूढ, लाभपूजार्थयत्नपरायण और पापाचरण करनेवाले हो जाएँ तो फिर सामान्यतया सिद्धांतानभिज्ञ सामान्यजनके लिए प्रभु श्रीकृष्ण ही गति रह जाते हैं.

टुच्चा/क्षुद्र नेतृत्व आदरसंस्कृतिके लिए सबसे घातक चीज है. देश, काल, परिस्थिति, संजोग —सब प्रतिकूल हो तो भी वह टिक सकती हे सक्षम नेताके सहारे. श्रीगोकुलनाथजी जैसे कार्यशूर आचार्यके नेतृत्वतले यह संप्रदाय जहांगीरके वारको भी झेल गया. मगर सब अनुकूल होनेपर भी नेतृत्व क्षुद्र हो तो नींव डगमगा जाती है. देशका प्रधानमंत्री संविधानके विनिश्चयरूप हाईकोर्टके फैसलेको बिलकुल घोंटके पी जाए और फिर भ्रष्टाचारके सामने जेहाद जगानेके बजाए "वो तो विश्वव्यापी है" कहकर निर्लेपतया उसे स्वीकार लें तो सामान्यजन तो "यद्यदाचरति श्रेष्ठः" न्यायसे इस प्रवाहमें ही जुट जाएगा; और प्रवाह बहोत बढ़े तब विशेषतया सिद्धांतज्ञ विशेष व्यक्ति भी लाचार उसमें बह जाएगा. विश्वव्यापी आंतरराष्ट्रीय हो तब हो, मगर भ्रष्टाचार अखिलभारतीय तो तुरंत हो जाता है.

वैसे देखा जाए तो नेतृत्व जरा भी क्षुद्र नहीं लगता कागजपर. आज अपने ही नहीं, दुनियाभरके हरेक संप्रदायमें इतने सारे 'साक्षात् घूमते-फिरते भगवान' मानवाकारसे विहार कर रहे हैं कि मेरे एक मित्र कहते हैं वैसे शायद सचमुच भगवानने कल्की अवतार धारण करनेका विचार बदल दिया होगा! मगर क्षुद्रता है और उड़कर आँखोंके समक्ष उभर आए वैसी है.

मीरांबाई वृंदावनमें जीव गोस्वामीसे मिलनेको गए. उन्होंने अंदरसे मिलनेसे ईन्कार करते हुए कहलवाया कि मैं स्त्रिओंका मुख नहीं देखता. मीरांबाईने कहा कि मेरा तो ऐसा खयाल था कि वृंदावनमें श्रीकृष्ण ही एकमात्र पुरुष है; यह दूसरे कहाँसे आ धमके?

वाकई भक्तिमार्गके एकएक अनुयायी और गुरु के लिए विचारणीय यह लाख रुपयेका सवाल है. भक्तिमार्गमें आराध्य तो केवल एक प्रभु ही हो सकते हैं. गुरु फ्रेन्ड हो सके, फिलॉसॉफर हो सके, गाईड हो सके; मगर आराध्य कदापि नहीं हो सकते, लक्ष्य कभी भी नहीं हो सकते, सेव्य कभी भी नहीं हो सकते. भक्तिमार्गकी प्रथम और चरम तथा अनिवार्य आवश्यकता है आराध्यकी और आराधककी. गुरु न हो तो कदम-कदमपर परेशानी जरुर होगी, मगर इस वजहसे गुरुकी कोई अनिवार्य

आवश्यकता नहीं है. इसी लिए श्रीआचार्यचरण निबन्धमें आज्ञा करते हैं कि योग्य लक्षणवाले गुरु न मिले तो भी सेवामें तो प्रवृत्त हो ही जाओ; फिर आगे जो होगा वह देखा जाएगा, वार होंगें वैसे कर भी देंगें.

गुरु आवश्यक है वह आराध्यतया नहीं मगर पथप्रदर्शकतया. छान्दोग्योपनिषद्में कहा है वैसे देवता भी आत्मविद्या और देवविद्या का उपदेश दे सकते हैं, मगर गति नहीं दिखा सकते. कर्णको सब विद्या आती हो मगर रथका पैया कीचडमें फँस जाए तब ऐन मौके पर क्या करना उसकी सूझ-बूझ नहीं होती. उस समय गुरु काममें आते हैं. कब क्या करना वह गुरु बताते हैं. श्रीगोपीनाथचरण इसी लिए आज्ञा करते हैं कि इस देहनौकासे भवसागरके पार जानेकी ईच्छा रखते अनुयायीको गुरुने स्वयं कर्णधार बनकर अपने उपदेशद्वारा पार लगाना चाहिए. श्रीआचार्यचरण भी नवरत्नमें आज्ञा करते हैं कि सेवा गुरुकी आज्ञा अनुसार करनी चाहिए.

जो क्षुद्रता या न्यूनता या टुच्चापन है वह इस गतिनिदर्शनमें है.

"आज दौसो सालके बाद भी फ्रेन्च फिलसूफ वॉल्टॅरके वचन सच्चे ठहरते हैं: 'डाक्टरें जो दवाई देते हैं उसके बारेमें कुछ खास जानकार नहीं होते. जो रोग मिटानेके लिए दवाइ देते हैं उसके बारेमें तो उससे भी कम जानते हैं. और जिस रोगीके लिए देते हैं उसके बारेमें तो जरा भी नहीं जानते.' दवाओंके बारेमें डाक्टरोंका अल्पज्ञान उन्हें अन्जानेमें हिंसाके आचरक बनाते हैं. दवाईकी विपरीत असर ज्यादा देखनेको मिलती है. चिकित्साजन्य रोग, जिसे अंग्रेजीमें आयेट्रोजेनिक रोग कहे जाते हैं, उनकी एक नई विशिष्ट अनोखी रोगसरणी बन गई है वह आश्चर्यजनक नहीं है!

(—'तबीबीक्षेत्रे हिंसा'में से साभार अनुवादित).

मैं भी आजकी पुष्टिसंप्रदायकी स्थितिके बारेमें कह सकता हूँ कि गुरु जो अपसिद्धांत/सिद्धांतोपदेश देते हैं उसके बारेमें कुछ खास जानते नहीं हैं. जिन सेवासंबंधी परेशानीओंको दूर करने उपदेश देते हैं उनके बारेमें तो उससे भी कम जानते हैं. और जो अनुयायी सेवकको उपदेश देते हैं उसके बारेमें तो कुछ भी नहीं जानते. सिद्धांतोंके बारेमें गुरुओंका अल्पज्ञान उन्हें अन्जानेमें सार्वजनिक मनोरथके आयोजक बना देता है. उपदेशकी विपरीत असर (अनुयायिओंकी गृहसेवाका ही छूट जाना, मार्गनिष्ठाका तूट जाना, इत्यादि) ज्यादा देखनेको मिलती है. आयोजनजन्य नौटंकी, जिसे रसशास्त्रमें रसाभास और कानूनशास्त्रमें सार्वजनिक दर्शन-प्रदर्शन कहा जाता है, उसकी एक नई विशिष्ट अनोखी रोगसरणी (आगे वर्णित सेवा-कथा-व्रज/बैठक यात्रा-श्रीयमुनाजी-आचार्यजी

संबंधी 'मनोरथों'की शृंखला) बन गई है वह आश्चर्यजनक नहीं मगर आघातजनक खेदजनक है.

श्रीआचार्यचरण भी इसी लिए निबंधमें इस मार्गके अनुयायिओंको चेतावनी देते हैं कि गुरु कृष्णसेवापरायण दंभादिरहित श्रीभागवततत्त्वज्ञ नर हैं कि नहीं उसकी जाँच करके ही उनको गुरु बनाने चाहिए.

यदि गुरु श्रीभागवततत्त्वज्ञ होंगे तो सिद्धांतोंको जानते होंगे, दवाईको जानते होंगे. यदि स्वयं कृष्णसेवापरायण होंगे तो सेवासंबंधी परेशानीओंको जानते-महसूस करते-दूर करते होंगे और अनुयायीके संदर्भमें भी वैसा करनेको समर्थ होंगे. यदि सेवा खुद दंभसे नहीं करते होंगे और सच्चाईसे करते होंगे तो सेवकभाव उनमें भी होगा और तब वे सेवकको समझ सकेंगे, रोगीको समझ सकेंगे.

''तब कृष्णदासकी बात काहूने कुंभनदाससों कही जो तिहारे बेटा कृष्णदासकों नाहरने मार्यो है. यह बात सुनिके कुंभनदासजी मूर्छा खाईके गिर पडे. . . सो श्रीगुसांईजी आपु देखें तो कुंभनदासजीके पास सब लोग ठाडे हैं. ता समय लोगननें कही जो महाराज! कुंभनदासजी बडे भगवदीय हैं, परंतु पुत्रको सोक महा बुरो होत है, या पीडासों कोई बच्यो नाहीं है. तब श्रीगुसांईजी आपु कहे जो ईनकों पुत्रको सोक नाहीं है, जो ईनकों और दुःख है. सो तुम कहा जानो? ईनकों यह दुःख है जो सूतकमें श्रीनाथजीके दरसन कैसे होयंगे? सो या दुःखसों गिरे हैं. . . तब श्रीगुसांईजी आपु. . कुंभनदासकों पुकारिके कहे जो कुंभनदास! सवारे श्रीनाथजीके दरसनकों आईयो, जो तुमकों श्रीगोवर्धननाथजीके दरसन करवावेंगे. तब श्रीगुसांईजीके यह वचन सुनिके कुंभनदासजीने तत्काल उठिके श्रीगुसांईजीको साष्टांग दंडवत कीनी, और बिनती कीनी जो महाराज! आपु बिना मेरे अंतःकरणकी कौन जाने? तब श्रीगुसांईजी आपु कहे, जो हम जानत है, तुमको संसारसंबंधी दुःख लगे नाहीं. . . ''

''एरिक एरिक्सनने डोक्टरोंके लिए एक सुवर्णनियम बनाया है: 'तुम तुम्हारे अपने शरीरपर जो इलाज करने और कराने तैयार हो उन्हें ही तुम्हारे मरीझको उपलब्ध करो. और जो इलाज तुम्हें स्वीकार्य न हो उसका गैरफायदा तुम्हारे मरीझको भी न दो.' . . . डाक्टर आल्वारेझने देखा कि उनकी अस्पतालमें काफी तबीबों और सर्जनोंको भी पेटमें अल्सरकी बिमारी थी. परंतु उनमेंसे २५ वर्षीय मायोक्लिनिकके संपर्कमें सिर्फ एक ही तबीब पर यह शस्त्रक्रिया की गई थी. इस तबीबने भी परिस्थिति

बहोत खराब होनेपर अन्य कोई इलाज काम न करनेपर नाचार शस्त्रक्रिया करवानेका मार्ग चुना था.''

(— 'तबीबीक्षेत्रे हिंसा'में से साभार अनुवादित).

क्यों आज पुष्टिमार्गमें गुरु क्षुल्लक बातोंको लेकर अनुयायिओंकी गृहसेवाकी शस्त्रक्रिया कर देते हैं? कुएके जलका उनका आग्रह स्वयं देशपरदेशके प्रवासमें पधारे तब कहाँ गायब हो जाता है? हवेलीमें शैव या शाक्त ब्राह्मणोंको भी सवेतन नौकरतया, और वह भी सेवामें रखे जा सकते हो तो घरके एक या दो सदस्य न मानते या न पालते हो (उनको सेवामें रहवानेकी तो बात ही नहीं है) उस वजहसे वैष्णवके माथे सेवा पधरानेसे क्यों ईन्कार कर देते हैं? स्वयं ज्ञातिभोजनमें और कोई तो बाजारका भी आरोगते हों तो वैष्णवसे अनप्रसादी कदापि नहीं लेनेका नियम लें तो ही सेवा पधरा देनेका आग्रह क्यों? जिन कारणोंसे उनको जख मारकर अरोगना पडता है वे ही कारण वैष्णवोंके जीवनमें भी हो सकते हैं वैसी संभावनाका ईन्कार तो नहीं किया जा सकता न? उस स्थितिमें सखडीभोगका आग्रह भी दुराग्रह है, क्योंकि अपना असमर्पित अन्न न लेनेका व्रत निभे इस लिए श्रीठाकुरजी कृपा करके अपनी धरी हुई सखडी सामग्री अरोगते हैं, प्रभुने कोई पधरावनीके फिक्स्ड रेट नहीं रखे हैं कि जो सखडी धरे उसके वहाँ ही आप अरोगे और उसकी ही सेवा लें.

मेरा आशय ऐसा नहीं है कि गुरु स्वयं सब छूट लें और अनुयायिओंको भी दे दे. मगर पहले खुद सांसदोंकी तरह छूट लिए बिना परंपरानुसार जीवन जीके उसका मज़ा / भोग भुगतें और फिर अनुयायिओंको उस तरहसे उपदेश दें. खुद गुड़ खाना छोड़के बादमें अनुयायीके बच्चोंको गुड़ न खानेका उपदेश दें; ''आप सेवा करी शीखवे श्रीहरि.''

आज गुरुके लक्षणोंकी जाँचकी बात तो जाने दो, सिर्फ उनके आसपासका माहौल देखकर शिक्षाश्लोकी याद आ जाती है. लायबल केसका सबक सबने भुला दिया. भक्ति-सेवा-कथाका कहीं कोई निशान भी नजर नहीं आता. भोगविलास, आलस्य, अध्ययनका अभाव तुरंत उभरके सामने आते हैं. 'अंतरंग वैष्णव' और खवासों का लगाव छूटता ही नहीं. भक्त्याचारके बजाय स्वेच्छाचार, अनाचार, दुराचार, और भ्रष्टाचार ही नजर आते हैं.

कंई लोग इन शब्दोंको बर्दास्त नहीं कर पाते होंगें, मगर मैं इस परिस्थितिको बर्दास्त नहीं कर पाता. मैं हृदयसे मानता हूँ कि गुरुओंके दोष देखनेका अनुयायिओंको न तो अधिकार है न ही कर्तव्य. मगर

गुरुओंका हित देखना यह अनुयायिओंका अधिकार है और कर्तव्य सविशेष है, खास करके आज. मैंने भी इस कर्तव्यबुद्धिसे प्रेरित होकर ही यह लिखा है, दोषबुद्धिसे नहीं.

"एकवार धोलकाना तथा कुहाना वैष्णव चालता हता; त्यारे तेमणे विनति कीधी, के राज अमारा (हमारे) कृत्य सामे जोशो नहि (मत देखना). त्यारे आपश्रीए कह्युं के करशो तो वीस वखत जोवुं पडशे (देखना पडेगा)."

रही बात गुरुको सर्वाधिक माननेकी; "गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः गुरुः साक्षात् परब्रह्म". स्वयं भगवान श्रीभागवतजीके एकादशस्कंधमें आज्ञा करते हैं कि आचार्यको साक्षात् मेरा रूप जाननें; मर्त्यबुद्धिसे उन्हें देखना वह असूयाभरा व्यवहार है. ऐसा परंतु अपने यहाँ वैष्णवके लिए भी कहा ही गया है. उपदेश तो हरि-गुरु-वैष्णवमें समान बुद्धि रखनेका है.

आचरणमें परंतु तीनोंकी अलग कक्षा है. आदरका एक ही स्तर नहीं होता. प्रसादी वस्तु पवित्र और पावनकारी होनेपर भी उसे स्पर्श करनेपर हाथ सेवालायक पवित्र नहीं रह जाते, खासा करने पडते हैं. सृष्टिमें प्रभु भिन्न भिन्न रूपसे प्रकट हुए हैं वह भिन्न भिन्न क्रीडा करनेके लिए. अतः हमें आदर भी भिन्न भिन्न प्रकारसे देना होता है. प्राचीन परंपराके आग्रही गोस्वामी आचार्य आज भी श्रीठाकुरजी-यमुनाजी-गिरिराजजी-भागवतजी या बैठकजीके सान्निध्यमें बिराजते हों तब चरणस्पर्श नहीं देते. उस स्थितिमें यदि कोई अज्ञानीजन भेट धर दें तो वैसी (मालापहिरावनी आदि) भेट भी स्वयं न रखकर गौग्रासमें भेज देते हैं. व्रजवासीओंको कोई उनका उच्छिष्ट न लिवा दे उसका खास ध्यान रखते हैं. उसी तरह जानकार वैष्णव भी गुरु या भगवत्परिकर के सान्निध्यमें एकदूसरेको 'जयश्रीकृष्ण कैसे हो मजेमें' नहीं करते. अपने यहाँकी अपरसमें भी ऐसी सूक्ष्मता है कि पादुकाजीको स्पर्श करनेके बाद हाथ खासा करके ही भगवत्सेवासंबंधी कार्य किया जाता है. और फिर श्रीठाकुरजीके सन्मुखमें अपरसमें न हो उनका स्पर्श हो जाए तो भी अपरस नहीं छू जाती.

जिसे जैसा जचे वैसा आदरसन्मान दें और स्वयंको जो जचे वैसे ही काम हम करें तो मार्गकी स्थितिमें कुछ सुधार हो सकता है. शेष तो भगवदिच्छा.

"सोमयज्ञ साचा कर्या तो श्रीमहाप्रभुजीए. अने ते पण कोटानकोटि. माटे आपश्री खरा दीक्षित. अने आपश्री आपना वंशस्वरूपे विराजी कोटानकोटि

यज्ञो करी रह्या छे. सोमयज्ञमां यजमान शुं करे छे? एक जीवतां (जिन्दा) प्राणीने मारीने होमे छे अने ते प्राणीने स्वर्ग प्राप्त थाय छे अने तेनुं पुण्य तेने प्राप्त थाय छे.

हवे श्रीमहाप्रभुजी शुं करे छे ते जोईए. एक जीवने शरणे लई श्रीठाकोरजी सन्मुख करे छे. सोमयज्ञमां पशुने मरवुं पड़े छे. आ मार्गमां शरणे आवेल जीवने मरवुं पडतुं नथी. सोमयज्ञमां पशुने प्राकृत स्वर्गानन्दनी प्राप्ति अने ए पण अल्प समय माटे थाय छे. आ मार्गमां जीवने अप्राकृत स्वरूपानन्दनी प्राप्ति अने ते हमेशने माटे. सोमयज्ञमां तो पशुने स्वर्गनी प्राप्ति थाय पछी आशीर्वाद आपे, त्यां सुधी तो गालो ज आपे. परंतु अहीं तो पहेलेथी ज आनंद अने आशीर्वाद. माटे खरो सोमयज्ञ तो श्रीमहाप्रभुजी ज करे छे."

११. ब्रह्मसंबंधदीक्षा

जनतंत्र आज विकृत होकर जूथतंत्र हो गया है, वोटबेन्कतंत्र हो गया है. धनिक पैसोंका प्रदर्शन करता है वैसे नेता वोटबेन्कका प्रदर्शन करते हैं— बारबार रेलीका आयोजन करते हैं, दिखावोंका आयोजन करते हैं, धरने करते हैं, रास्ते रोकते हैं, बंधके एलान करते हैं. और फिर धनिक पैसेकी हिफाजतका जितना प्रयास करते हैं उससे भी तनतोड प्रयास वोटबेन्कको बनाए रखनेके लिए यह नेता करते हैं. एतदर्थ कोई भी हद तक जाकर समाधान करनेको वे तैयार होते हैं; गैरजिम्मेदाराना और स्वार्थी.

वोटबेन्कको-भीडको खुश रखनेके भरपूर प्रयासोंसे आखिर भीड़में अनुशासनहीनता आती है. असामाजिक तत्त्व भीड़पर हावी हो जाते हैं और समझदारी परवशतामें विलीन हो जाती है.

यों दिशाविहीन नेतृत्व अंतमें नेता और अनुयायी दोनोंके अधःपतनको आमंत्रित करता है.

"आज सबसे ज्यादा विषादमय परिस्थिति तो यह है कि सर्जक खुदकी चालसे नहीं चलता मगर लोगोंकी चालसे चलने लगा है. जनताजनार्दनको जैसा पसंद हो वैसा ही सर्जन करनेका धंधा लेकर बैठ गया है. यहाँ लेखक खुद ही लोकरुचिका दास बन गया हो फिर लोकरुचिको ऊंचे ले जानेकी बात ही कैसे की जाए? . . . आजका लेखक या पत्रकार होटेलका मालिक न होकर बावर्ची बन गया है. वह लोगोंकी मनपसंद खाद्यसामग्री पकाता है और रोज परोसता जाता है. लोग वह सामग्रीकी प्रशंसा करें तो वह स्वयं बहोत लोकप्रिय बन गया है ऐसे भ्रममें घूमता रहता है. . . ऐसा लेखक समाजको किस तरह दिशानिर्देश दे सकेगा? नई पीढ़ीको किस तरह प्रेरणा दे सकेगा? . . . ऐसी परिस्थिति हो वहाँ भाषा कैसे जी सकेगी? भाषाका अधःपतन न हो तो और क्या हो? भाषाके साथ संबंध रखना यह एक अलग बात है और भाषाके साथ व्यभिचार करना वह भी अलग बात है. . ."

(— 'पवननी व्यासपीठ'में से साभार अनुवादित).

जो बात नेता या लेखक के लिए जरुरी है वह धर्मगुरुओं के लिए तो अनिवार्य है.

"सो एक दिन मार्गमें जात देखे तो एक बडो अजगर मर्यो पड्यो है, और वाकूं लक्षावधि चेंटा लगे हैं, सो वह आपकी दृष्टि पर्यो. . . तब श्रीआचार्यजी आप कहे जो वह अजगर पिछले जन्ममें महंत हतो. ताने

अपनो उदरभरणार्थ जीविका चलायवेकों सेवक बहोत किये हते, परि उनको कृतार्थ करिवेकी तो सामर्थ्य न हती. भगवत्सेवा भगवन्नाम होय तो जीव कृतार्थ होई. सो यह तो केवल उदरभरणके लिये ही महंत भयो हतो, सो मरे पीछे अजगर भयो. और वे सब सेवक चेंटा भये. सो वाकों खात हैं और कहत हैं जो अरे पापी, तोमें कृतार्थ करिवेकी सामर्थ्य न हुती तो हमकों सेवक काहेकों कियो? हमारो जन्मारो वृथा काहेकों खोयो? सो वाकों देखिके मोकोंहु ग्लानि आई है. . . यह बात श्रीआचार्यजी महाप्रभु आप याहीके लिये प्रगट किये जो जीव शरण जाई, सेवक होई, सो गुरुने अपनो सामर्थ्य विचारकें सेवक करनें."

प्रभुचरण श्रीगुसांईजी अतएव आज्ञा करते हैं— "विचार्यैव सदा देयं कृष्णनामविशेषतः। अविचारितदानेन स्वयं दाता विनश्यति॥"

भारतीय संस्कृतिमें अधिकारी सुपात्रको ही दान करनेपर भार दिया गया है. मनुस्मृति वहाँ तक कहती है कि अनधिकारीको सिखानेके बजाए गुरु अपनी विद्या अपने साथ ही लुप्त कर दे वह गुरु और विद्या दोनोंके लिए हितावह है.

गुरु बनना वह पासपोर्ट ओफिस खोलने जितना सरल नहीं है, काफी जिम्मेदारीभरा काम है. कुम्हार तो दस मिनटमें घड़ेका आकार घडता है, मूर्तिकारको भी महिना लगता है, मगर एक अनुयायी घड़नेमें जनम निकल जाता है. अपेक्षा परंतु दस नालायक बच्चे पैदा करनेकी नहीं है, एक या दो ऐसे बच्चे पैदा करनेकी है कि जो समाजको बोजरूप न बने. अनुयायीकी भीड़ इकट्ठी करनेकी वृत्ति निरा पागलपन है.

आज तो ब्रह्मसंबंधदीक्षादान यह पुष्टिमार्गीय धार्मिक आयोजनोंका एक हिस्सा या कभी तो स्वयं एक आयोजन बन गया है. पहलेवाले दिन घोषणा होती है कि जिन्हें लेनेकी ईच्छा हो वे आज व्रत करके कल आ जाए लेने. कभी तो इस तरह हजारोंकी तादातमें एकसाथ माईक पर मंत्र बुलवाया जाता है. "अंधेरी नगरीमें गंडु राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा." शुरुआत ही यदि ऐसी आदरहीन हो तो अंत कहाँ से अच्छा आए?

"चोर्यासी अने बसो बावने ए प्रमाणे विनंती करेली के 'महाराज! अमने कृपा करीने शरणे ल्यो.' अत्यारे (हालमें) कोईपण ए प्रमाणे विनंती करतुं नथी. एटले तेओने (चोर्यासी-बसो बावनने) कृपा करीने शरणे लीधेला ज्यारे अत्यारे कोईने कृपा करीने शरणे लेवामां नथी आवता! अत्यारे भाव नष्ट थई गयो छे अने वात वहेवारमां (ब्यौहारमें) पडी गई छे. ब्रह्मसंबंध

बधा लेवरावे (लिवाते) छे माटे लेवुं ए हिसाबे आज लेवाय छे, कर्तव्यबुद्धिथी नथी लेवातुं.''

छटैल अग्रगण्य वैष्णवोंकी बिनती या धाकधमकी को वशीभूत होकर नवागंतुक अन्जानोंको हलाल कर देना गुरुको शोभा नहीं देता. जैसे अनुयायी गुरुको जाँचे वैसे गुरुको भी अनुयायीका परीक्षण करना अनिवार्य है.

और फिर परीक्षण भी बहोत कष्टसाध्य या समयसाध्य नहीं है. जरुरत आत्मसंयमकी है. जाँचना वही होता है कि ईच्छुक व्यक्तिपर भगवत्कृपा है कि नहीं. उसकी भी सीधी और सरल परख यह है कि व्यक्तिको मार्गमें रुचि है या नहीं? पुष्टिप्रभुके स्वरूप-गुण-लीला प्रति आदर और संवेदना है कि नहीं? दो-चार प्रश्न पूछते ही मालूम हो जाता है.

सृष्टिमें तो भेद ही प्रकट हुए हैं; ''तुलसी इस संसारमें भातभातके लोग.'' हर कोई पुष्टिमार्गी होनेसे रहे. पुष्टिमार्गको विश्वधर्म कहेनेवाले न पुष्टिको समजते हैं न मार्गको न विश्वको न ही धर्मको. कुंभनदासजीके सातमेंसे डेढ बेटे ही भगवदीय थे. कोई भी वस्तु कोई व्यक्तिविशेषके लिए कोई अवसरपर कोई अनुपातमें ही अच्छी होती है. डूबते इन्सानको पानीमेंसे बाहर निकालो तो वह आशीर्वाद देगा, मगर मछलीको बाहर निकालो तो उसकी जानपर बन आएगी. मज़ा सृष्टिके नियमोंका अनुसरण करनेमें हैं, उन्हें तोड़ने या मरोड़ने या लांघने में नहीं.

श्रीगुसांईजीने इसीलिए ब्रह्मसंबंधदीक्षा लेने उत्सुक मर्यादाभक्त तुलसीदासजीको रोकते हुए आज्ञा की कि आपके जैसे हमारे यहाँ अनेक हैं मगर आपके जैसे आपके यहाँ आप एक ही हो. आप आपके यहाँ रहो उसमें ही आपकी और हमारी शोभा है.

हरेक पुष्टिमार्गीय गुरु ऐसा आत्मगौरव और आत्मसंयम बनाए रखे तो वाकही पुष्टिसंप्रदाय शोभित होगा. अनुयायीओमें भी किसीके हाथका पानी लिया जा सके या बैठकमें श्रीआचार्यचरणको जल धरा सके इस तरहकी छोटी-मोटी वजहसे जबरदस्ती ब्रह्मसंबंध लिवानेकी जिद जोर नहीं पकड़ेगी.

घरको धरमशाला मत बनाओ भाईसा'ब!

१२. उपसंहार

''एकबार कल्याण भटने बिनती की कि कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि भगवदीयका कार्य प्रेमसे होता है. अब प्रेम तो उद्यम करनेपर भी हाथ नहीं आता; जब श्रीप्रभु कृपा करे तब हाथ आए. तो बात करनेका क्या प्रयोजन? वार्ता करनेसे प्रेम हाथ तो नहीं आएगा. यह बात सुनकर श्रीगोकुलेश बोले कि श्रीप्रभुजीकी प्राप्ति तो प्रेमसे ही होती है. . . इसलिए जीवको अवश्य प्रेमकी सेवा करनी चाहिए. अब उस प्रेमकी सेवा कैसे हो तो प्रेमका धनी भगवदीय है; उसकी संगतिमें रहना. . . कदापि प्रभु बहोत कृपा करके जीवको प्रेम दिलाते हैं, मगर यदि वह उस प्रेमकी सेवा नहीं करते, चर्चा नहीं करते तो प्रेम रास नहीं आता. प्रभुजी प्रेमके आधीन हैं अतः अवश्य प्रेमकी कानि रखनी. . .''

''कोई एक समय श्रीगोकुलेशको भट कल्याणने विनंती करके पूछा कि महाराज, प्रभुजीके दर्शन भीतरमें तथा वार्तामें तथा सेवामें होते हैं. भगवदीय भगवद्वार्ता चर्चा करते हैं तब किसीको पूर्ण रसका अनुभव होता है. किसीको जरासे रसका अनुभव होता है. किसीको जरा से भी रसका अनुभव नहीं होता. किसीको वीररस भी होता है. उसका खुलासा राज कृपा करके कहो. तब श्रीमुखसे बोले कि लोगोंके चित्त एक भांतिके नहीं हैं, अनेक भांतिके हैं. जिसका जैसा चित्त उसे वैसा अनुभव होता है. एक चित्त आकाश है, एक चित्त शून्य है; उसे कोई वस्तु स्पर्श नहीं कर सकती. दूसरा चित्त वज्र है; उसे कोई वस्तु छुए नहीं वैसे कोई वस्तुको चित्त भी न छुए. तीसरा लोहा है वह चित्तको कोई चीज छेद न सके मगर अग्नि छेद सके. चौथा चित्त पथ्थर है; वह चित्तको कुरेद कुरेदके भेदा जा सकता है, अग्नि नहीं भेद सकता. पांचवाँ चित्त सुवर्ण है. यद्यपि कठिन है मगर अग्निका संबंध हो जाए तो भीतरसे मृदु हो जाए और कोमल हो, सरस हो जाए; बादमें कठिन ही रहे, और नीरसका नीरस रहे. वैसे किसीका चित्त सत्संगमें कोमल हो जाए, फिर सत्संग दूर होनेपर कठिनका कठिन अर्थात् नीरसका नीरस रहे. छठा चित्त लाख, जरासी अग्निसे सुंदर कोमल हो जाए, फिर कठिनका कठिन रहे. सातवाँ चित्त मोम, वह सहज कोमल हो जाता है, जरा सी अग्निसे सुंदर कोमल ही रहता है. आठवाँ चित्त घी हे, वह सहज कोमल होता है. जरा सी भी हाथकी गरमी हो तो भी कोमल होता है. वैसे भगवद्वार्तासे कोमल हो. ऐसा चित्त भगवत्कृपा बगैर नहीं हो सकता. अब नौंवा चित्त मक्खन है. वह निर्मल और उज्जवल है, स्नेहपूर्वक सरस और कोमल

है. कभी कठिनताका लेश भी नहीं है. रूखा भी नहीं , मलिन नहीं और सुगंधित है. ऐसे चित्तमें श्रीप्रभुजीका निवास जानना. घीसे मक्खन सर्वोत्तम है. अब दसवाँ चित्त अमृत. उसके गुण बहोत प्रसिद्ध हे, कहाँ तक कहें? अपने जो संगी हैं उन्हें अमर करे वह गुण प्रसिद्ध है. अपने संबंधी अधम हो उनको अपनी बराबर करता है ऐसा चित्त है. उन्हें आधीन श्रीगोकुलके प्रभु होकर रहते हैं. मुख्य भक्त उनको जानों कि जिनके ऐसे चित्त हैं.'' (अनुवादित).

''दुनियामें ऐसे इन्सान भी हैं जिन्होंने कभी प्यार, निष्ठा, साहस या एकाग्रता नहीं देखे हो. मनुष्यके सामने एक संपूर्ण स्वस्थ अवस्थाका चित्र होना चाहिए. ऐसा चित्र हो तो वह उस अवस्थाके साथ खुदकी अवस्थाकी तुलना कर सके. तंदुरस्ती किसको कहा जाए उसका पक्का ख्याल हो तो बीमारीका खयाल आ सके.''

(— 'प्रेमनी कला'में से साभार अनुवादित).

''अस्माभिरेवं लिखितं निरपेक्षैः स्वभावतः।
स्नेहेन सर्वथा चित्ते धीयतां यदि रोचते॥

हमने निरपेक्ष होय स्वभावतें ऐसें लिख्यो है. सो रुचे तो निश्चय स्नेह करिके चित्तमें धारण करोगे.''

अधिकमास निकट आता है और नि.ली.गो.श्रीगोविन्दरायजी महाराजश्री सुरतवालेका स्मरण होता है. आपश्री श्रीठाकुरजीको अनसखड़ी या दूधगर भोग धरते अपने सेवकोंको आज्ञा करते कि आनेवाले अधिकमासमें आप अपने श्रीठाकुरजीको सखड़ीभोग धरनेका व्रत लेकर देखो. यदि कुछ विघ्न न आए और उल्लाससे ऐसा कर सको तो सदाके लिए सखड़ी भोग धरना. यदि परेशानी हो तो अधिकमासके बाद जो अब धरते हो वही धरना. उसके बदलेमें जो भी अपराध होगा वह मेरे सर. काफी अनुयायी वैसे सखड़ीभोग धरते हो गए थे.

आप सब भी अगले एक मासमें असली पुष्टिमार्गी बनकर जीकर देख लो, रेंडीमेंड धर्मकी जंजालसे महिनाभर दूर रहकर जीकर देख लो. प्रयोगमें सफल हुए तो फायदा ही फायदा है और निष्फल गए तो भी कुछ बिगड़ेगा नहीं; थे वहाँके वहाँ ही रहोगे. विक्रेता नजर लगाकर ही बैठे हैं, समुंदरमें गिरके मर नहीं गए हैं. पुष्टिसंप्रदायके अलावा भी दुनियामें बहोत सारे अच्छे अच्छे मार्ग हैं ही. मगर एक बार प्रयोग तो करना ही चाहिए; निशाना चूक जाना माफ है, नीचा निशान ताकना माफ नहीं.

* * *

पाछें रूप-सनातननें श्रीआचार्यजीसों पूछ्यो जो महाराज, ये वैष्णव कौन हैं? तब श्रीआचार्यजीने कही— ये हमारे सेवक हैं. तब रूप-सनातनने कही— महाराज, आपको मारग तो पुष्टि है और ये दुबरावल क्यों है? तब श्रीआचार्यजीने कही— हम तो ईनकों बरजे जो यह मारगमें मति परो. परंतु ये मेरो कह्यो न मान्यो. ताको फल भोगत हैं. या प्रकार गूढ रीतिसों श्रीआचार्यजी कहे. . .

भावप्रकाश— . . और श्रीआचार्यजी कहें— यह मारगमें मति परो. सो कह्यो न मान्यो तब फलदसाकों भोगें. जैसे पंचाध्याईमें व्रजभक्तनसों श्रीठाकुरजी कहें, घर जाउ, परन्तु व्रजभक्त यह बात न माने. तब रासलीलाके फलकों पाये. सो अब तो मर्यादा रीतिसों कहे. काहेतें? वेदकी मर्यादा यह जो सेवक होन आवे तो एक बार ना कहनो, उह सेवकको भाव दृढता देखनकों. पाछें वाके पूरन प्रीति सेवक होनकी होय तो सेवक किये वाको फल मिलें. तातें वैष्णवकों ना कहनो. और ''यह मारगमें मरि परो.'' सो यह मारग व्रजभक्तनकों है. जैसे व्रजभक्त सर्व समर्पन करि सरन भये तब खानपान देह-सुख सब-सुख सब छूट्यो. . .